समकालीन शिक्षा-चिन्तन की मासिक पत्रिका

अगस्त, २०१२
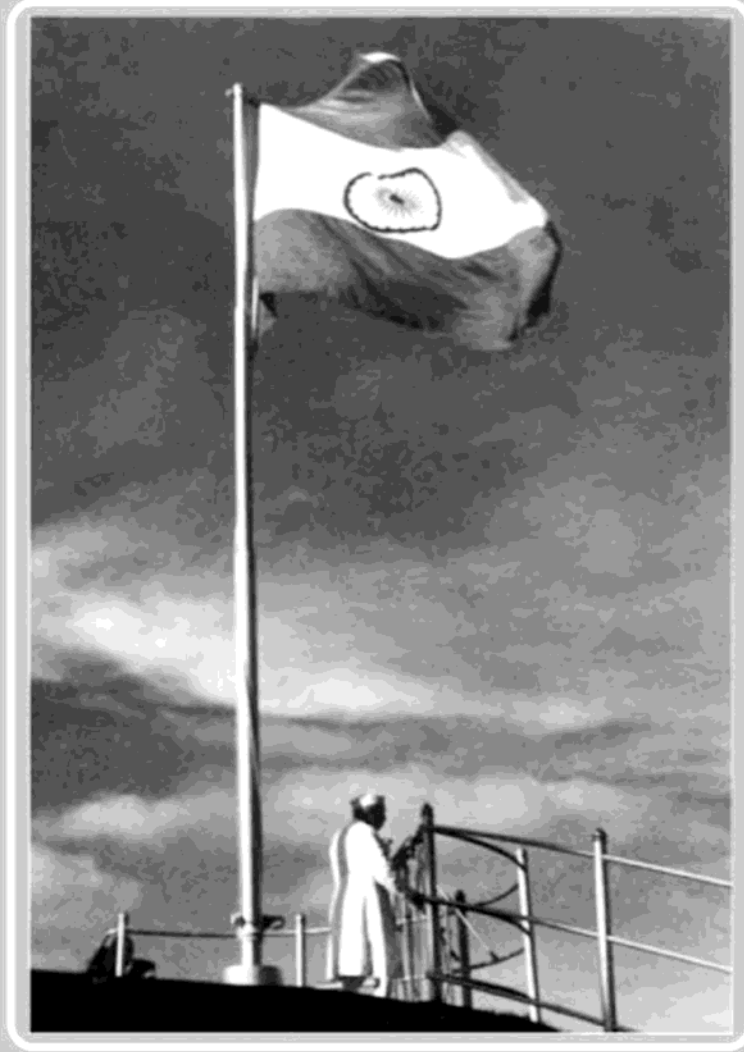
स्वतंत्रता दिवस की हार्दिक शुभकामनाएं

आयोजन

सिद्धराज ढड्ढा स्मृति व्याख्यान
२८ जुलाई, २०१२

❑

कुमारप्पा ग्राम स्वराज्य संस्थान के संस्थापक अध्यक्ष, प्रमुख गांधी विचारक एवं स्वतंत्रता सेनानी स्व. श्री सिद्धराज ढड्ढा की स्मृति में २८ जुलाई को जयपुर में एक व्याख्यान आयोजित किया गया। व्याख्यान देने आयीं थीं सर्व सेवा संघ एवं गांधी शांति प्रतिष्ठान की अध्यक्षा **सुश्री राधा भट्ट**। **सुश्री राधा भट्ट** ने उत्तराखंड में चले चिपको आंदोलन एवं शराबबन्दी आंदोलन में प्रमुख भूमिका निभाई है। आज के व्याख्यान का विषय था **पर्यावरण, प्रकृति एवं समाज**। यह व्याख्यान पर्यावरण, प्रकृति एवं समाज की परस्पर पूरकता पर केन्द्रित रहा। प्रकृति एवं प्राणी एक दूसरे के पूरक हैं। प्रकृति-पर्यावरण एवं समाज के बीच संतुलन से ही जीवन सुरक्षित है।

विषय को आगे बढ़ाते हुए सुश्री राधा भट्ट ने हिमालय की गरिमा एवं उसके शाश्वत प्रभाव का स्मरण दिलाया और कहा कि हिमालय सम्पूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप के लिये जीवनदायी है। भारत ही नहीं बल्कि पाकिस्तान, बांग्लादेश, नेपाल, बर्मा (म्यांमार) सभी को जल के साथ-साथ उर्वरा शक्ति भी प्रदान करता है। हिमालय हमारी सीमा का प्रहरी भी है। वहां के लोग प्रकृति एवं समाज दोनों के रक्षक हैं। उन्होंने याद दिलाया कि मेरी दृष्टि में अब तक तीन अवसरों पर गलती हुई है-१. भारत के विकास की समग्र अवधारणा, उसकी परम्परा रही है जिसमें विकास का वैकल्पिक रास्ता खोजा जा सकता है-खोजा जाना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। २. स्वतंत्रता मिलने पर विकास के लक्ष्य निर्धारण के लिये पाश्चात्य देशों की ओर देखा और मान लिया कि वहां की सोच के अनुरूप अनुकरण करना श्रेयस्कर है। विकास के इस असमंजस में हम पूंजीवादी जीवन शैली में अपना हित समझ बैठे। ३. तीसरी भूल सोवियत संघ एवं अन्य समानधर्मी राष्ट्रों की विकास नीति की विफलता के समय भी हमने अपने देश की अपनी विकास नीति की ओर ध्यान नहीं दिया। राधा जी ने कहा कि हमने अपनी निजता को ही नहीं पहचाना।

परिणाम हमारे सामने हैं। हमने मान लिया कि पूंजीवाद ही एकमात्र रास्ता है। पिछले एक दशक में पूंजी प्रधान भौतिकवादी विकास नीति और उपभोग प्रधान जीवन शैली का परिणाम हमारे सामने है। इसका विकल्प पूरा विश्व खोज रहा है और वैज्ञानिकों, विद्वानों के विचार-मंथन के बाद जो सुझाव आ रहे हैं वह गांधी विचार का स्मरण दिलाता है। पर ऐसा लगता है कि उसे स्वीकार करने की हिम्मत नहीं है-तैयारी भी नहीं है।

हिमालय पूरे भारत ही नहीं आस-पास के देशों का भी हृदय है। वहां से निकली नदियों ने विकास की अलग अवधारणा दी, ऋषि संस्कृति दी है। पूंजीवादी विकास नीति ने पूरी हिमालय पर्वतमाला को, वहां की संस्कृति एवं समाज को हिलाकर रख दिया है। ❑

अवध प्रसाद

असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतम्गमय।

समकालीन शिक्षा-चिन्तन की पत्रिका

वर्ष : ३७ अंक : ८
अगस्त, २०१२
श्रावण-भादो वि.सं. २०६९

सम्पादक
रमेश थानवी

प्रबन्ध संपादक
प्रेम गुप्ता

प्रकाशन संपादक
दिलीप शर्मा

- एक प्रति पन्द्रह रुपए
- वार्षिक सहयोग राशि एक सौ पचास रुपए
- संस्थाओं के लिए दो सौ पचास रुपए
- व्यक्तिगत सदस्यों के तीन वर्ष का चार सौ रुपए
- संस्थाओं के लिए तीन वर्ष का छः सौ रुपए
- मैत्री समुदाय की सहयोग राशि पन्द्रह सौ रुपए

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति
७-ए, झालाना डूंगरी संस्थान क्षेत्र
जयपुर-३०२ ००४
फोन - २७०७६९८, २७००५५९
फैक्स - ०१४१-२७०७४६४
ई मेल - raeajaipur@indiatimes.com
thanviramesh@gmail.com

क्रम

आवरण : पहले स्वाधीनता दिवस पर देश के पहले प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू द्वारा पहला संदेश

पाठक अब इंटरनेट पर अनौपचारिका नीचे लिखे लिंक पर ऑन लाइन पढ़ सकते हैं -

http://speakerdeck.com/u/anoupcharika/p/aug-2012

अनौपचारिका के पिछले अंक भी आप नीचे लिखे लिंक पर देख सकते हैं -

http://speakerdeck.com/u/anoupcharika/p/july-2012
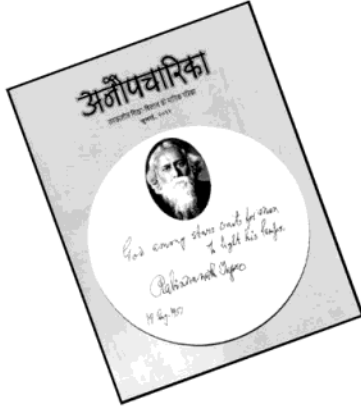
कोटा से डॉ. प्रेम जैन

अनौपचारिका का जुलाई अंक प्राप्त हुआ। सामग्री सदैव की भांति उत्कृष्ट है। पूर्वा याज्ञिक कुशवाहा के आलेख 'मां और शांति निकेतन' ने विशेष प्रभावित किया। गुरुदेव एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसी कालजयी व्यक्तित्वों के साथ विद्यार्थियों का फोटो दुर्लभ है। आलेख में ब्रजेश कुमार जी के पत्रों के माध्यम से एक काल खंड को (चाहे वह अल्प ही क्यों न हो) जीवन्त किया गया है। लेख रोचक, उत्साहवर्धक एवं प्रेरणास्पद है। उस समय के अनेक अनछुए पहलू उद्घाटित हुए हैं।

अपनी बात में 'दिये तले अंधेरा' को मीठी छुरी से महीन मार करते हुए खूब उकेरा और कुरेदा गया है। अंक हेतु साधुवाद ।

'कुछ सपने, कुछ हकीकत, पाठ की संवेदना और एक शिक्षक की कीमत ने विचारों को हवा दी । अनौपचारिका के प्रत्येक अंक की आतुरता पूर्वक प्रतीक्षा रहती है।❑

उदयपुर से श्यामसुन्दर नन्दवाना

प्रसन्नता की बात है कि राजस्थान में प्रौढ़ शिक्षा कर्मियों के लिये सूचना, समाचार तथा परस्पर सम्पर्क की कड़ी के रूप में अनौपचारिका आज भी अपनी भूमिका निरन्तर व बदस्तूर निभाती आ रही है।

सच पूछा जाए तो अनौपचारिका का दायरा बहुत व्यापक है। इसमें प्रकाशित लेख-आलेख शिक्षा धर्म, संस्कृति, अध्यात्म, इतिहास, पुरातत्व एवं देश की सीमाओं से पार अन्तरराष्ट्रीय स्तर के चिन्तकों, वैज्ञानिकों व शिक्षाविदों के विचारों एवं अनुभवों को सामान्य जन तक पहुंचाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। ❑

नयी दिल्ली से प्रेमपाल शर्मा

पूर्वा याज्ञिक कुशवाहा का लेख 'मां और शांति निकेतन' बहुत अच्छा लगा। सभी कुछ। पत्रों को सहेजकर रखना, फिर सिलसिलेवार उन पत्रों से झांकता शांति निकेतन , रविन्द्रनाथ टैगोर और शिक्षक, एक विद्यार्थी के रूप में मां के सभी सुख-दुख, हर्षोल्लास, दिनचर्या और समग्रता में इन सब में झांकता शांति निकेतन और उसकी शिक्षा पद्धति। सचमुच स्कूल, पाठशाला ऐसा ही होना चाहिए जिसमें पढ़ने वाले बच्चे ईमानदारी से यह सब लिखें। मां लिखती हैं वास्तव में उसकी जन्म की साधना इस जन्म में सफल हो रही है। इससे अधिक और मैं क्या लिख सकती हूं। मां कई पत्रों में ऐसा लिखती है। शांति निकेतन में रहना जन्म-जन्म की साधना, तपस्या है।

वास्तव में सभी स्कूल ऐसे ही होने चाहिए। न कि जिन्हें देखकर बच्चे डरें, कभी होम वर्क के आतंक से, कभी टीचर की पिटाई से।

फिर वही सवाल, क्या ई-मेल संस्कृति में पत्रों को इस रूप में सुरक्षित रखा जा सकता है ? नहीं। इसीलिए पत्र लिखना शिक्षा का एक अनिवार्य हिस्सा ❑

कालंद्री (सिरोही) से गौरव सोलंकी

अनौपचारिका ने दुनिया के इस समंदर में सफर करती गुमशुदा गुमनाम कविताओं को अपने संसार में सम्मिलित कर मुझे गौरवान्वित किया। इसके लिए मैं तहेदिल से आभार व्यक्त करता हूं। ❑

जयपुर से रूपनारायण काबरा

अनौपचारिका के माध्यम से की गयी आपकी साहित्य सेवा एवं शिक्षा सेवा अपने आप में अति विशिष्ट है। आप शोध परक साहित्य सेवी हैं । उन हीरों को भी रोशनी में लाते हैं जिनकी अपनी प्रखर चमक है पर गुमनामी में कहीं दबी रह जाती है । उसे प्रचार-प्रसार नहीं मिला या उन प्रतिभाओं ने सहज विरक्ति भाव से ऐसा कुछ चाहा ही नहीं। साधुवाद। ❑

शिक्षा के जिज्ञासुओं में भारत दूसरा

नई दिल्ली. शिक्षा के प्रति जिज्ञासा के मामले में भारतीय दुनिया में दूसरे स्थान पर हैं। बुधवार को जारी गूगल इंडिया के अध्ययन में कहा गया कि शिक्षा के बारे में खोज में भारत चार साल में आठवें से दूसरे स्थान पर आ गया। सूची में पहले स्थान पर है अमरीका। अध्ययन में 18 से 35 उम्र वर्ग के 2229 युवकों को शामिल किया गया। यह बात सामने आई की भारत में गूगल सर्च में साल-दर-साल 46 फीसदी की वृद्धि देखी जा रही है। मोबाइल से आने वाले पूछताछ संबंधी कॉल में साल-दर-साल 135 फीसदी की वृद्धि देखी गई।

कहिये, कैसी रही ?

अखबार तो रोज पढ़ते हैं मगर आज एक छोटी सी खबर पर नजर पड़ गयी थी उस खबर ने अचानक मन के घोड़े दौड़ा दिये थे। एक साथ कई विचार मन में आने लगे थे। जो खबर पढ़ी थी उसे जस का तस इसी अंक में पृष्ठ संख्या २ पर प्रकाशित भी कर रहे हैं। इस खबर को पढ़ते ही ऐसा लगा था की मानो अनौपचारिका के संपादकीय का कोई विषय सूझ गया है। तुरन्त मन में एक शीर्षक की रचना भी हुई थी। शीर्षक था – **अन्वेषण हमारी अस्मिता।**

शीर्षक सूझते ही पड़ताल आगे शुरु हो गयी थी। तुरन्त **डॉक्टर अपर्णा मक्कड़** को फोन किया जो एक इंजीनियरिंग कॉलेज में पढ़ाती हैं और निरन्तर अन्वेषण में गहरी रुचि रखती हैं। उनको इस खबर का हवाला देते हुए कहा कि अपने इंटरनेट और दूसरे साधनों के मार्फत पता लगा के बताओ कि अन्वेषण की दुनिया में भारत में क्या-क्या घटा है और ऐसा क्या घटा है जिससे कि हम अपनी पहचान को जोड़ सकें, अपनी अस्मिता का नाम दे सकें। **अपर्णा जी** को बात बहुत अच्छी लगी थी । उनका मन और भी आगे दौड़ पड़ा था । **अपर्णा जी** ने कहा कि इस विषय पर तो हमें **अनौपचारिका** का पूरा एक विशेषांक निकालना चाहिए। मैंने भी सहमति जताई और कहा कि फिलहाल संपादकीय को पहले अग्रेषित कर देते हैं फिर आगे अंक की घोषणा भी कर देंगे।

बात यहीं ठहर जाने वाली नहीं थी। जब अन्वेषण की बात आयी तब **आर्यभट्ट** से लेकर आज तक की सारी वैज्ञानिक गवेषणाओं और अन्वेषणों पर नजर दौड़ती गयी। **रमन, रामानुजम, जगदीश चन्द्र बोस** और अभी हाल ही में अन्वेषित **ईश्वरीयकण** के साथ जिस भारतीय वैज्ञानिक **बोस** का नाम जुड़ा है उन सब का स्मरण आया। मन आगे पीछे डोलता रहा। **बुद्ध** ने जिन कणों के प्रतिपल उत्पाद और व्यय का जिक्र करते हुए इस जीवन को निरा अनित्य ठहराया उनकी याद भी आयी और **महावीर** ने जिस अप्रतिम प्रतिभा के साथ पदार्थ की दुनिया में पुद्गल की जो व्याख्या की है उसका स्मरण भी आया। सोचने लगा कि अन्वेषण के साथ अपनी अस्मिता को जोड़ना निश्चित ही एक गरिमामय परम्परा का उल्लेख करना होगा। लगने लगा कि आधा संपादकीय तो लिख दिया गया है।

मैंने फिर इस विश्वास के साथ **प्रेम जी** को फोन किया कि वे कम से कम संपादकीय का शीर्षक तो दर्ज कर लें । जब तक संपादकीय नहीं लिखा जाता है तब तक

दिलीप जी और **प्रेम जी** के मन में न केवल अकुलाहट बनी रहती है बल्कि एक ऐसा तकाजा भी दोनों तरफ से मुझे मिलता रहता है कि मैं देर हो जाने के अपराध बोध से सदा घिरा रहता हूं। **प्रेम जी** को शीर्षक लिखवाया **'अन्वेषण हमारी अस्मिता।'** फिर समझाया कि इसे मैं यूं भी कह सकता हूं कि **'निरन्तर खोज ही हमारी पहचान है।'** साथ ही मैंने यह भी कहा कि अन्वेषण और अस्मिता के अनुप्रास का मोह मैं नहीं छोड़ पा रहा हूं इसलिये यह शीर्षक कुछ अधिक प्रिय लग गया है।

बात यहां पर भी नहीं ठहरने वाली थी। मन के आगे जो घोड़े जुते थे वे मन को विज्ञान की दुनिया से शिक्षा-संसार की ओर भी मोड़ बैठे। तुरन्त मैंने दिल्ली में एन.सी.ई.आर.टी.की **प्रोफेसर उषा शर्मा** को फोन किया और उनसे अनुरोध किया कि शिक्षा के क्षेत्र में भारत के उस योगदान के बारे में मुझे विस्तार से बतायें जिसे वे भारत की देन समझती हैं। उन्होंने कुछ जवाब भी दिया और फिर थोड़ी देर बाद फोन करने को भी कहा। बात आगे बढ़ती गयी । मैं अपने बड़े भाई साहब **शिवरतन जी** को फोन करना भी जरूरी समझता था क्योंकि उनके अध्ययन-मनन के सामने मैं अब भी निरा बालक हूं। बहुत सीखना है।

उनको संपादकीय का शीर्षक बता कर पूछने लगा कि शिक्षा के क्षेत्र में भारतीय शिक्षाविद्ों, चिंतकों एवं ऋषि-मुनियों की देन के बारे में मुझे कुछ बतायें जिसे वे भारतीय अस्मिता के साथ जोड़ कर देखना चाहेंगे। बिना पल भर की देर किये उन्होंने तुरन्त कहा कि अस्मिता में क्या पड़ा है ? अस्मिता तो शब्द ही गलत है। इससे तो निरा अहंकार परिलक्षित होता है। मैं भी फौरन उनके संकेत को समझ गया कि वे क्या कहना चाहते हैं ? तुरन्त यह समझ में आया कि **बुद्ध, महावीर** और **गांधी** हमारे थे तो क्या हुआ ? वे सारी इंसानियत के भी तो थे। वे तो पूरी दुनिया के थे। हम उनकी देन को ओढ़ते हुए भुनाने का यत्न क्यों करें ? ऐसे ही जिन वैज्ञानिकों ने जो कुछ दिया वह भी पूरी मानवता का था। विचार तो वैसे भी विश्वजनीन होता है । मैं भाई साहब द्वारा दिये गये संकेत में इतना सब कुछ देखते हुए यह महसूस करने लगा कि शिक्षा तो अहंकार को विगलित करती है। हम उसे हमारी ही अस्मिता से क्यों जोड़ें ? और क्यों अपनी अस्मिता की बात करें? बस, इसके साथ ही हमारा शीर्षक निरस्त हो गया। कहिये ; कैसी रही ? ❑

पुनश्च :

पाठक कृपया इसे मेरी व्यथा-कथा समझें । गौर करें कि संपादकीय लिखने की हमारी अन्त: प्रक्रिया क्या है और कैसे वो शहर-कस्बों की सीमा लांघती हुई जयपुर से दिल्ली तक भी पहुंच जाती है और यह भी देखें कि एक सही संकेत मिल जाये तो सारा विषय कैसे बदल जाता है? यहां जो लिखा गया है वह उस संपादकीय के लिखे जाने की पूर्व प्रक्रिया है जो लिखा नहीं गया। ❑

रमेश थानवी
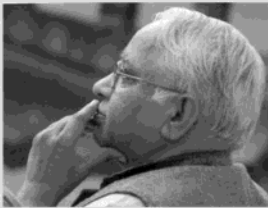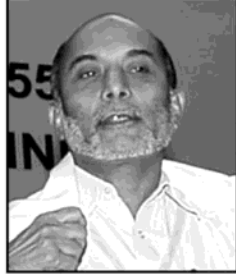
एन.सी.ई.आर.टी. कृष्ण कुमार और नया पाठ्यक्रम

❑
प्रेमपाल शर्मा

पहले संसद में हंगामा और फिर थोराट कमेटी की नयी सिफारिशों ने शिक्षा जगत में एक नयी हलचल पैदा कर दी। इस हलचल ने भारत के शीर्षस्थ शिक्षाविदों को अपनी समझ के बारे में भी सोचने को विवश कर दिया। इस हलचल का एक प्रभाव प्रेमपालजी की डायरी में भी देखा जा सकता है। वे अपनी डायरी में एन.सी.ई.आर.टी के साथ जुड़े अपने समय का स्मरण कर रहे हैं और वहां की आंतरिक कार्य प्रक्रिया एवं भाई कृष्णकुमार की कार्यशैली पर भी अपनी विश्लेषणात्मक टिप्पणी कर रहे हैं। देश का कोई भी चिंतक विचारक किस प्रकार सोचने को विवश हो जाता है इसकी एक बानगी भर है यह डायरी। ❑ सं.

डायरी १९ /३/२०१०

एन.सी.ई.आर.टी. में निदेशक के रूप में पांच साल पूरा करने के बाद **कृष्ण कुमार** वापस दिल्ली विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग पहुंच गये हैं। उनके कार्यकाल में बनाया गया पाठ्यक्रम और ऐतिहासिक दस्तावेज एन.सी.एफ.२००५ शिक्षा जगत में महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

मैं अपने को खुशकिस्मत मानता हूं कि मेरा नाम भी एन.सी.ई.आर.टी. की उन पुस्तकों से थोड़ा बहुत जुड़ा जो **प्रो. कृष्ण कुमार** की छत्रछाया में बनायी गयी हैं। 'छत्रछाया' जैसे शब्द का इस्तेमाल मैं जान बूझकर कर रहा हूं। क्योंकि हर विषय के लिए जो टीम उन्होंने सुझाई उसमें संभवत: उनका किसी तरह से सीधे शीर्ष पर या नौकरशाही के अंदाज में हस्तक्षेप नहीं रहा। थोड़ी छाया भर थी। हिन्दी के पाठ्यक्रम की बात तो मैं जानता ही हूं। समाज विज्ञान के बाकी विषयों में भी यही स्थिति बतायी गयी हैं। पुस्तकें विशेषकर हिन्दी की कैसे बनी और कैसे और बेहतर बन सकती थीं, यह दास्तां फिर कभी; क्योंकि हिन्दी की पुस्तकों से पूरी तरह मैं संतुष्ट नहीं रहा। वैसे ऐसा असंतोष होना भी चाहिये। इससे कई गुना ज्यादा तसल्ली मुझे समाज विज्ञान विशेषकर इतिहास, राजनीति शास्त्र, मीडिया और पत्रकारिता जैसे नये विषयों की पुस्तकों से हुई। एक नयी दृष्टि देती हुई। विचार के सैंकड़ों बिन्दु जिनके बूते पाठ्यक्रम को नया कहा जा सकता है।

एन.सी.ई.आर.टी. से मेरा संबंध एक विद्यार्थी के नाते कई दशकों से रहा है। सन् ८० के आसपास तब जब मैं दिल्ली पहुंचा और सिविल सेवा की तैयारी के लिए **विपिन चन्द्रा, रोमिला थापर, सतीशचन्द्र** की किताबें पढ़ीं तथा नौवीं, दसवीं से लेकर ग्यारहवीं, बारहवीं की किताबें भी। सिविल सेवा परीक्षा में मैंने इतिहास को इसीलिये चुना। मैं इन्हीं किताबों के बूते सामाजिक विषयों को ज्यादा जल्दी और बेहतर समझ पाया। उत्तर प्रदेश में इतिहास, राजनीतिक शास्त्र जिस ढंग से पढ़ाया जाता है उससे तो न पढ़ाया जाना बेहतर है। बताते हैं अन्य राज्यों की स्थिति भी बहुत अच्छी नहीं है। बंगाल में पलड़ा बायें झुका है तो दूसरे राज्यों में दायें। इस इतिहास से तो ऐसा लगता है

मानो जिन्ना और गांधी लड़ने के लिये ही पैदा हुए हैं। **कृष्ण कुमार** की किताब **'मेरा देश तेरा देश'** बताती है कि पाकिस्तान में भी इतिहास पढ़ाने का यही रवैय्या है। इतिहास के प्रति वह लगाव मेरा आज तक बरकरार है। इसके कुछ संशोधित संस्करण सन् ९० के आसपास मैंने फिर से उल्टे पुल्टे। यह तब जब मेरे छोटे भाई **ओमा शर्मा** सिविल सेवा की परीक्षा दे रहे थे। ९० के बाद तत्कालीन सत्ता द्वारा किताबों में कुछ बदलाव किये गये। लेकिन मुझे उन्हें देखने का सुयोग नहीं मिला।

तीसरा पड़ाव २००५ में आया जब एन.सी.ई.आर.टी. से मुझे भी पत्र मिला कि नयी पाठ्य पुस्तकें **राष्ट्रीय पाठ्यचर्या २००५** की रोशनी में तैयार की जानी है। इस टीम के अगुआ **प्रोफेसर यशपाल** और **प्रोफेसर कृष्णकुमार** थे।

हिन्दी की किताबों के संदर्भ में मुझे याद हैं कि **कृष्ण कुमार, नामवर सिंह, पुरुषोत्तम अग्रवाल** ने सभी सदस्यों के साथ एक बैठक की और फिर अगले तीन-चार साल तक लगातार अलग-अलग टीमें, अलग-अलग पुस्तकों पर काम करती रहीं। इन चार सालों में मुझे नहीं याद कि मैं **कृष्ण कुमार** से कभी दो-चार मिनट से ज्यादा मिला होऊंगा मैं खुद इस बात से हैरान रहता था कि नये पाठ्यक्रम की टीमों में सैंकड़ों विद्वान, शिक्षक, शिक्षार्थी हैं। देश के कोने-कोने से आने वाले इतने लोगों से कैसे कोई मिल सकता है और ऐसे मिलने का औचित्य भी क्या है। शायद पिछले दिनों बसन्त वैली स्कूल ने जो विदाई बैठक की उस दिन मैं काफी दिनों के बाद खुलकर मिला और अनुरोध भी किया कि आपको कुछ दिन और रहना चाहिए था एन.सी.ई.आर.टी. में।

मैं अभी भी यकीन करता हूं कि संस्थाएं दीर्घजीवी होती हैं व्यक्ति नहीं। मेरी नजर में एन.सी.ई.आर.टी. के शिक्षा इतिहास में पाठ्यक्रम, परीक्षा पद्धति, पुस्तक निर्माण से लेकर शिक्षण प्रशिक्षण, बाल साहित्य, मनोविज्ञान, भाषा, समझ का माध्यम, बाल पत्रिका जैसे सैंकड़ों बिन्दुओं पर इतना समान्तर और परस्पर गुणनखंडी काम शायद ही कभी हुआ हो। मेरा मानना है कि पाठ्यक्रम तो ठीक-ठाक बन गया। कुछ कमी है भी तो भविष्य में और सुधार हो सकता है लेकिन इस पाठ्यक्रम को जब तक एक गहन प्रशिक्षण के जरिए शिक्षकों के गले नहीं उतारा जाता, उनको समझाया नहीं जाता तब तक बच्चों तक पहुंचना मुश्किल है। मैं स्वयं उन अभिभावकों, शिक्षकों से इस दौर में मिलता रहा हूं जो बिना **राष्ट्रीय पाठ्यचर्या २००५** को समझे या पाठ्य पुस्तकों को देखे ये फतवा दे देते हैं कि ये रोज-रोज किताबें क्यों बनाते और बदलते हैं ? यथास्थितिवादी यह समाज और उसके शिक्षक परिवर्तन की किसी भी आहट से घबराने लगते हैं। इतना अच्छा पाठ्यक्रम जब तक इतने ही उन्मादी मिशन से शिक्षकों के गले नहीं उतार दिया जाता, तब तक मामला वैसा ही रहेगा जैसे डॉक्टर कहते हैं कि 'एंटी बायोटिक्स का पूरा कोर्स न पूरा करने पर बीमारी पूरी तरह से जाएगी नहीं।' क्या शिक्षा का जातिवादी, धर्मवादी, पोंगापंथी, अनुशासन की आड़ में तर्कशक्ति की खिलाफत करता यथास्थितिवादी दर्शन किसी भी बड़ी बीमारी से कम है ? नया पाठ्यक्रम यदि पूरे देश के स्कूलों में चलने दिया गया, यदि शिक्षक, अभिभावकों ने नयी मूल्यांकन पद्धति के मर्म और महत्त्व को समझा तो शायद शिक्षा की तस्वीर कुछ बदल जाये। हालांकि इन पंक्तियों को लिखते वक्त २०१० से विदेशी विश्वविद्यालय को भारत में लाने की जो कवायदें, अंग्रेजी को हर जगह लादने की जो कोशिश शुरू हो रही है उसमें **कृष्णकुमार जी** की बनायी गयी पाठ्य पुस्तकें कहीं बहस से बाहर ही न हो जाएं इस बात का भी पूरा डर है। क्योंकि विदेशी भाषा और उनके विश्वविद्यालयों को हिन्दुस्तान में लाने के लिए देश की राजनीतिक सत्ता पक्ष और विपक्ष पूरे जी-जान से जुटे हुए हैं। जैसे-जैसे निजी स्कूल बढ़ रहे हैं एन.सी.ई.आर.टी. की पुस्तकों के लिये उनकी कोई प्राथमिकता नहीं है।

कृष्ण कुमार

संस्थाएं दीर्घजीवी होती हैं व्यक्ति नहीं। मेरी नजर में एन.सी.ई.आर.टी. के शिक्षा इतिहास में पाठ्यक्रम, परीक्षा पद्धति, पुस्तक निर्माण से लेकर शिक्षण प्रशिक्षण, बाल साहित्य, मनोविज्ञान, भाषा, समझ का माध्यम, बाल पत्रिका जैसे सैंकड़ों बिन्दुओं पर इतना समान्तर और परस्पर गुणनखंडी काम शायद ही कभी हुआ हो।

कभी-कभी अपनी बात कहने के लिए मैंने एन.सी.ई.आर.टी. की टीम के बीच एक किस्सा भी गढ़ लिया था कि हो सकता है कि 'हमने नयी किताबें यानि बैंगन, टमाटर, कंपोस्ट, देशी खाद (आरगैनिक) से तैयार कर लिये हैं लेकिन यदि इसको बनाने, पकाने वाला रसोइया यानि कि

शिक्षक पुराने मिजाज का ही है तो इसके स्वाद का अंतर और असर विद्यार्थी शायद ही ले पाएं।'

मैंने **कृष्णकुमार** जी को कैसे जाना, कब जाना मुझे याद नहीं। यों साहित्य अकादमी, या दूसरी लेखक गोष्ठियों में उन्हें देखता सुनता रहा हूं। रेल्वे स्टाफ कॉलिज, बड़ौदा के दिनों में जब वे सिविल सेवा के अधिकारियों को संबोधित करने के लिए आये थे, या अन्य मंचों पर जब-जब सुना लगा कि ऐसा विद्वान जिसने **हिन्दू, इक्नॉमिक्स एंड पॉलिटिकल वीकली 'सेमिनार'** से लेकर **जनसत्ता** और दूसरी पत्र-पत्रिकाएं उतने ही सम्मान से छापती हों। सिर्फ छापना महत्त्वपूर्ण नहीं है उनके विषयों की विभिन्नता, बच्चों की भाषा, उनकी सीखने सिखाने की सीमाएं और सामर्थ्य से लेकर **महादेवी वर्मा, सुभद्रा कुमारी चौहान, रघुवीर सहाय, कृष्णा सोबती** पर दिये गये अद्‌भुत व्याख्यान। हिन्दी में भी उतनी सहजता और अंग्रेजी में भी। दोनों की मिलावट तो बिल्कुल नहीं। सुभद्रा कुमारी चौहान के तो वे लगभग दीवाने हैं। इतिहास की मुकम्मिल समझ भी **कृष्ण कुमार जी** को है। पहले अंग्रेजी में आयी **'प्रीज्यूडिस एंड प्राइड'** जिसका हिन्दी में अनुवाद आया है 'मेरा देश तेरा देश' बहुत महत्त्वपूर्ण पुस्तक है जिस पर ध्यान दिया जाना चाहिये। हमें बचपन से किस ढंग से, कैसे इतिहास द्वारा सांम्प्रदायिक बनाया जा रहा है इसका बहुत वैज्ञानिक शोध **कृष्णकुमार जी** ने किया है। वे पाकिस्तान में भी घूमे और हिन्दुस्तान में भी। हिन्दुस्तान में जिन्ना के खिलाफ जहर उगलकर इतिहास की समझ पैदा की जाती है , तो पाकिस्तान में गांधी पर कोड़े लगाकर। **कृष्ण कुमार जी** इसी संदर्भ में कहते हैं कि 'कई बार गलत शिक्षा ज्यादा अहित करती है यानि कि ऐसा इतिहास पढ़ने-लिखने वाले ज्यादा साम्प्रदायिक बनते जाते हैं, बजाय गांव देहात के बिना पढ़े-लिखे किसान मजदूर।'

'बालिका शिक्षा' के लिए भी उन्होंने कई अभिनव प्रयोग किये हैं और पिछले दिनों चलते चलते एक और मुहिम उन्होंने चलाई वह थी **'समझ का माध्यम।'** मुझे लगता है कि शायद **'समझ का माध्यम'** की शुरूआत और पहले करने की जरूरत थी क्योंकि यदि अपनी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा दी जायेगी तभी एन.सी.एफ. २००५ का सपना सार्थक हो सकता है। मुझे पता चला है कि छोटा सा दस्तावेज तो **'समझ का माध्यम'** तैयार हो चुका है, लेकिन **कृष्ण कुमार जी** के इंजन के बिना यह देश भर में, दूसरे प्रांतों में और विशेषकर हिन्दी प्रांतों की शिक्षा व्यवस्था को कैसे कारगर ढंग से बदलेगा, मुझे इसमें संदेह है। कभी-कभी यह भी लगता है कि नयी सरकार की अंग्रेजी परस्त निजी स्कूलों को बढ़ावा देने की नीतियों के साथ तालमेल के दबाव में **कृष्ण कुमार जी** समान स्कूल और अपनी भाषाओं में नीचे से ऊपर तक शिक्षा देने के मुद्दे पर उतने मुखर नहीं रहे जितनी कि उनसे देश भर को उम्मीद थी।

मैंने जब भी **कृष्णकुमार जी** को एन.सी.ई.आर.टी. में और टिके रहने के लिए उकसाया जैसा कि निदेशक बनने के वक्त मुझे सबसे ज्यादा तसल्ली हुई थी, कि इस पद के लिए उनसे बेहतर भाषाविद्, शिक्षक, समाज विज्ञानी नहीं हो सकता, वे सिर्फ मुस्कुराते हुए आगे बढ़ जाते हैं। शायद संकेत देते हुए कि अभी मुझे इससे भी बड़े काम करने हैं

डायरी १४ /५/२०१२

दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र को आखिर हो क्या गया है ? कभी राज्यों में कार्टून के नाम पर गिरफ्तारियां हो जाती हैं तो कल देश की सर्वोच्च कही जाने वाली संस्था **संसद** भी ठप हो गयी। मात्र इतनी सी बात है कि ११ वीं कक्षा की राजनीति विज्ञान की किताब में जो कार्टून छपा है वह कुछ लोगों को **अंबेडकर** की इमेज के खिलाफ लगा है। यह कार्टून १९४९ में **प्रसिद्ध कार्टूनिस्ट शंकर** ने बनाया था और समाचार पत्रों में उन्हीं दिनों प्रकाशित हुआ था। **नेहरू, अंबेडकर** घोंघे को हांकने के प्रतीक रूप में मात्र इतना संदेश देना चाहते हैं कि **संविधान** जल्दी बनाइये। इस कार्टून को २००६ में एन.सी.ई.आर.टी. के नए पाठ्यक्रम में ढेर सारे दूसरे कार्टूनो के साथ पुस्तक में शामिल किया गया है। पुस्तक,

परामर्शदाताओं की निगरानी में बनाई गयी थी। **डॉ. योगेन्द्र यादव** और **सुहास पालशीकर** ने कल की कार्रवाई से आहत होकर इस्तीफा दे दिया है। पूरे देश में दोनों विद्वानों की पहचान राजनीति-विज्ञान के साथ-साथ जाने माने शिक्षाविद् के रूप में हैं। बहुत अच्छा किया इन्होंने, विशेषकर इन स्थितियों में जब तथाकथित संसद के हर पार्टी का नेता बढ़-चढ़कर बिना तथ्यों की जांच किए ऐसा कर रहा है तो किसे चोट नहीं पहुंचेगी ?

डॉ. योगेन्द्र यादव की अगुआई में राजनीति शास्त्र की जो किताबें बनी है, उसे देश के इतिहास में अभूतपूर्व ही कहा जायेगा। देश भर के प्रसिद्ध विद्वानों ने एक-एक अध्याय पर मेहनत की है। उसकी प्रस्तुति ऐसी है कि आप चाहे किसी भी विषय के रहे हों लेकिन पढ़ने का आनंद आयेगा। उन्नी-मुन्नी के रूप में गंभीर सवालों को सामान्य भाषा में हल्के-फुल्के अंदाज में उठाते हुए, प्रसिद्ध व्यंग्यकारों के कार्टून, ऐतिहासिक इमारतों से लेकर राष्ट्रीय नेताओं के चित्र, प्रस्तुति और ऐसी पारदर्शी भाषा। एन.सी.ई.आर.टी.के नए पाठ्यक्रम में यदि कहा जाए कि सर्वश्रेष्ठ किताबें **योगेन्द्र यादव** की अगुआई में आई हैं तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। ऐसा इसलिए भी हुआ कि **योगेन्द्र यादव** किसी कट्टर विचारधारा के अनुयायी नहीं हैं और न ही किसी दल के साथ। **एडवर्ड सईद** के शब्दोंमें एक सच्चे बुद्धिजीवी की भूमिका में इतना बड़ा काम ऐसे ही दिमाग से संभव हो सकता है। देश भर ने इस काम को सराहा भी है लेकिन इन सब को पीछे करते हुए मात्र एक कार्टून की वजह से **योगेन्द्र यादव** की समझदारी पर प्रश्न चिन्ह लगाया जा रहा है। आखिर यह देश इतनी छोटी सी बात के लिए ऐसे कितने हादसों से गुजरेगा ?

एन.सी.ई.आर.टी. पुस्तकों की पूरी सीरिज को पढ़ा जाए तो शायद यह अहसास हो कि **बाबा साहब भीमराव अंबेडकर** को जितना सही मूल्यांकन और प्रतिष्ठा नये पाठ्यक्रम में दी गयी है वह अभूतपूर्व है। नयी हर पुस्तक में उन्हें **नेहरू, गांधी** के बराबर स्थान दिया गया है। क्या अंबेडकर को इतिहास पुरुष, भारत के संविधान-निर्माता के बजाए एक धर्म का प्रतीक, मूर्ति में बदलना चाहते हैं उनके अनुयायी ? क्या धर्म के चश्में से **अंबेडकर** को देखना एक प्रतिगामी कदम नहीं है ? खुद अंबेडकर की आत्मा इस सारे प्रकरण से दुखी हो रही होगी। यह देश के भविष्य के लिए और विचारों की आजादी के लिए अच्छे लक्षण नहीं कहे जा सकते। यदि इन प्रवृत्तियों को नहीं रोका गया तो भविष्य में कोई भी अपनी पूरी कल्पना-शक्ति और आजादी के साथ पाठ्यक्रम निर्माण जैसे कामों की तरफ नहीं आएगा। २००६ में भी **प्रेमचन्द** की कहानी **'दूध के दाम'** कवि धूमिल की कविता, परिचय के संदर्भ में इन दोनों ही लेखकों का अपमान किया गया था। तब भी बुद्धिजीवी चुप्पी लगाए थे। अब भी अगर वे चुप रहें तो फासिज्म की तरफ बढ़ने में कोई देरी नहीं लगेगी।

२००६ में भी प्रेमचन्द की कहानी 'दूध के दाम' कवि धूमिल की कविता, परिचय के संदर्भ में इन दोनों ही लेखकों का अपमान किया गया था। तब भी बुद्धिजीवी चुप्पी लगाए थे। अब भी अगर वे चुप रहें तो फासिज्म की तरफ बढ़ने में कोई देरी नहीं लगेगी।

❑❑❑

जब सामान्य स्थिति में किताबें नहीं मिल पा रही हैं तो इस झगड़े के बाद, जिसमें इन पुस्तकों की समीक्षा, कार्टूनों को हटाया जाना शामिल है आदि के चलते बच्चे फिर साल, दो साल के लिए किताबों से महरूम हो जायेंगे।

अंतिम बात, इस सबसे नुकसान पहुंचेगा विद्यार्थियों को। एन.सी.ई. आर.टी. की किताबें पूरे देश और एन.सी.एफ. २००५ को सभी राज्यों से भी स्वीकृति मिली है। पाठ्यक्रम का खुलापन, लचीलापन से लेकर उसकी भाषा-प्रस्तुति की सर्वत्र सराहना हुई है लेकिन बावजूद इसके एन.सी.ई.आर.टी. की किताबें ढूंढे नहीं मिलतीं। निजी-प्रकाशक और सरकारी-तंत्र की सांठगांठ के चलते बच्चों को जब एन.सी.ई.आर.टी. की किताबें नहीं मिलेंगी तो वे मजबूर होकर दूसरी किताबों की तरफ चले जाते हैं। जब सामान्य स्थिति में किताबें नहीं मिल पा रही हैं तो इस झगड़े के बाद, जिसमें इन पुस्तकों की समीक्षा, कार्टूनों को हटाया जाना शामिल है आदि के चलते बच्चे फिर साल, दो साल के लिए किताबों से महरूम हो जायेंगे। यानि एक अच्छा पाठ्यक्रम, अच्छा प्रयास फिर धरा रह जायेगा क्योंकि वह विद्यार्थियों तक तो पहुंचेगा ही नहीं। इसलिए इस देश में विचारों की आजादी, बेहतर शिक्षा और अभिव्यक्ति की गरिमा की खातिर देश के हर लेखक, बुद्धिजीवी, प्रोफेसर, शिक्षक और रानीतिक दलों को आगे आकर **योगेन्द्र यादव** उनकी टीम और पाठ्यक्रम के समर्थन में आगे आना चाहिए। यदि अब चुप रहें तो उस कविता की सच्चाई से हम भी दूर नहीं रहेंगे जो हिटलर के समय जर्मनी में लिखी गई थी कि 'जब मेरे ऊपर हमला हुआ तब आसपास कोई नहीं बचा था। (कवि-मार्टिन नीमोलर हिटलर के दौर का जर्मन कवि)❑

९६, कला विहार अपार्टमेंट,
मयूर विहार फेज-१, दिल्ली-९१
मो. : ९७१७६४४६४३

एक थीं मृणाल ताई

❑

विश्वनाथ सचदेव

पिछले दिनों श्रीमती मृणाल गोरे के देहावसान की खबर एक सदमे की तरह आयी थी। सहसा विश्वास नहीं हुआ था कि इतनी अदम्य ऊर्जा वाली कोई महिला इतनी जल्दी चली जायेंगी। मृणाल ताई के बारे में भाई विश्वनाथ का लिखा लेख हम 'शुक्रवार' से साभार लेकर प्रकाशित कर रहे हैं। 'शुक्रवार' एक साप्ताहिक पत्रिका है जो दिल्ली से निकलती है और इसके संपादक हैं हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार विष्णु नागर। मृणाल ताई ने मुम्बई की औरतों को एकजुट करके किसी जमाने में एक नयी फ़िज़ा बना दी थी। लाखों महिलाएं हाथ में बेलन लेकर मुम्बई की सड़कों पर निकल आयी थीं–मृणाल ताई ने इसे 'लाटनी मोर्चा' का नाम दिया था। फिर मृणाल ताई ने पानी के मुद्दे पर मुम्बई की औरतों को एकजुट किया था और वे पानीवाली बाई कहलाई। प्रस्तुत लेख उनका एक संक्षिप्त परिचय है जो हम अपनी श्रद्धांजलि के साथ प्रकाशित कर रहे हैं। ❑ सं.

समाजवादी नेता **मृणाल गोरे** की शवयात्रा जब मुंबई के केशव गोरे स्मारक ट्रस्ट से रवाना हुई तो हजारों आंखें तो नम थीं ही, आकाश भी भीग गया था। पुलिस बैंड मातमी धुन बजा रहा था। फूलों से सजा ट्रक जब चला तो अचानक बारिश होने लगी थी। मेरे पास खड़े गुजराती के वरिष्ठ पत्रकार रमेश ओझा बोले, **'मृणालताई जाते-जाते भी मुंबई को पानी दे गईं।'** महाराष्ट्र में लगभग सूखे की स्थिति को देखते हुए 'पानी देने वाली' इस बात के महत्त्व को समझा जा सकता है पर यह प्रतिक्रिया स्वर्गीय **मृणालताई** के बारे में और भी बहुत कुछ कहती है। साठ के दशक के शुरुआती सालों में इस जुझारू समाजवादी नेता ने मुंबई के एक उपनगर गोरेगांव की झोंपड़पट्टियों में पानी के नल लगवाने के लिए आंदोलन छेड़ दिया था। उनके प्रयास सफल हुए। झोपड़पट्टियों में पानी पहुंचा। कृतज्ञ गोरे गांववासियों ने **मृणाल गोरे** के नया नाम दिया- **'पाणीवाली बाई।'**

लगभग आधी सदी बीत गई इस बात को पर यह नाम आम आदमी के हितों की रक्षा के लिए मृणाल गोरे के संघर्षों का प्रतीक बन गया है। इन पचास सालों में मुंबईवालों ने न जाने कितनी बार मृणाल गोरे को सड़क पर उतरते देखा है और हर बार सफल होते हुए भी। इसी दौरान मृणाल पार्षद बनीं, विधायक बनीं, सदन में विपक्ष की नेता बनीं, सांसद बनीं। बनने को और भी बहुत कुछ बन सकती थीं वे, लेकिन उन्हें अपने लिए एक संघर्षशील कार्यकर्ता का पद ही हमेशा उपयुक्त लगा। सामाजिक हितों के लिए और समाज एवं देश के लिये देखे गये अपने सपनों की पूर्ति के लिये लगातार संघर्ष उनका स्वभाव बन गया था और उनकी पहचान भी थी।

चालीस-पैंतालीस साल पहले जब मैं मुंबई आया था तो संयोग से गोरेगांव में ही

मुझे आश्रय मिला था। उन दिनों मुंबई का यह उपनगर मृणालमय हो रहा था। आये दिन मैं उन्हें सड़क पर किसी जुलूस का नेतृत्व करते हुए देखता था। मुद्दा पीने के पानी का हो या गरीबों तक अनाज पहुंचाने का, बेघरों को मकान दिलवाने का हो या फिर महिलाओं को उनके अधिकार दिलवाने का, सरकारी विभागों में फैले भ्रष्टाचार का हो या फिर लगातार बढ़ती महंगाई का, सामाजिक समानता का हो अथवा आर्थिक विषमता का, मृणाल गोरे हर मोर्चे पर एक सक्रिय सजगता और सार्थक संघर्ष का प्रतीक बनी दिखाई देती थीं। पता नहीं कब और कैसे मैं उनके आकर्षण के जाल में बंधता चला गया और मुझ जैसे हजारों की तरह ही वे मेरी भी मृणाल ताई बन गईं। संघर्ष और मुस्कान का एक अजीब-सा मिश्रण झलकता था उनके चेहरे पर। परिस्थिति कैसी भी हो, उनमें मैंने हमेशा यह विश्वास देखा कि कुछ हो सकता है, किया जा सकता है और वे मृत्युपर्यंत लगातार कुछ नहीं, बहुत कुछ करती रहीं।

यह सही है कि इस विलक्षण राजनेता का कार्यक्षेत्र मुंबई अथवा महाराष्ट्र तक सीमित रहा लेकिन उनके कृतित्व और व्यक्तित्व का प्रभाव दूर-दूर तक पहुंचा। उनकी नि:स्वार्थ राजनीति को साने गुरुजी और डॉ. राममनोहर लोहिया के विचारों ने सींचा था। राजनीति कैसी होनी चाहिए और राजनेता कैसा होना चाहिए, इसका एक उदाहरण थीं मृणाल। संघर्ष और त्याग उनकी राजनीति का मूल मंत्र थे। आजादी की लड़ाई के दौरान वे डॉक्टरी की पढ़ाई कर रही थीं। गांधी के आह्वान पर उन्होंने पढ़ाई छोड़ दी और स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़ीं। आजादी मिली तो उन्हें सत्तापक्ष के बजाय विपक्ष में बैठना उचित लगा। हर गलत का विरोध उनका ध्येय बन गया। एक समाजवादी समाज की रचना उनका आदर्श था। संघर्ष उनका हथियार। १९७५ में जब इंदिरा गांधी ने आपातकाल की घोषणा की तो मृणाल की जनतांत्रिक प्रवृत्तियों ने पूरी ताकत के साथ उसका विरोध किया। वे भूमिगत होकर आपातकाल के खिलाफ संघर्ष कर रही थीं। तब महाराष्ट्र से लेकर गुजरात तक वे जनतंत्र की अलख जगा रही थीं। जब तक वे गिरफ्तार नहीं हुईं, सतत संघर्ष करती रहीं- जनतंत्र की जीत के प्रति आवश्वस्त थीं वे।

आपातकाल समाप्त हुआ। चुनाव हुए। मृणाल सांसद बनीं। जनता पार्टी की सरकार बनी लेकिन इसके बाद मृणाल ने जो किया, वह हमारी आज की समूची राजनीति के आचरण के विपरीत था। मोरारजी देसाई ने उन्हें आमंत्रित किया था मंत्रिमंडल में शामिल होने के लिए और मृणाल गोरे ने मंत्री बनने से इनकार कर दिया। तब उन्होंने मोरारजी भाई से बड़ी विनम्रता से कहा था, 'सरकार में रहने के बजाय मैं पार्टी का काम करना ज्यादा पसंद करूंगी।' मेरे जैसे अनेक प्रशंसक उनके इस कदम से सहमत नहीं थे। मुझे याद है जब मैंने अप्रसन्नता व्यक्त करते हुए उनसे कहा था कि उन्हें मंत्री पद ठुकराना नहीं चाहिए था तो उन्होंने अपनी सहज मुस्कान बिखेरते हुए कहा था, 'मंत्री तो कोई भी बन सकता है पर यह समय जनता और सरकार के बीच सेतु बनने का है। मैं वैसा एक सेतु बनना चाहती हूं।' नि:स्वार्थ समाजसेवा और राष्ट्रीयता के ऐसे और कितने उदाहरण हैं स्वतंत्र भारत की राजनीति में ?

मृणाल राजनेता थीं, राजनीतिक नहीं। राजनीति उनके लिए सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति का माध्यम थी, सत्ता प्राप्त करने का हथियार नहीं। अक्सर राजनीतिज्ञ जैसे होते हैं, वैसी नहीं थीं मृणाल। वे वैसी थीं जैसे राजनीतिज्ञ होने चाहिए। सजगता, संकल्पशीलता, सादगी, वैयक्तिक स्वार्थों से ऊपर उठकर देखने की क्षमता, सामाजिक हितों के प्रति मानवीय संवेदनशीलता जैसे उनके गुण आज की राजनीति और आज के नेताओं के बिल्कुल विपरीत पड़ते हैं। जननेता थीं मृणाल गोरे ।

मृणाल जब पार्षद थीं, तब वे लोकल ट्रेन में सफर करती थीं। विधायक बनीं, तब भी और सांसद रहते हुए भी अक्सर उन्हें लोकल ट्रेन में ही सफर करते देखा जाता था। आम जनता से जुड़े रहने का इससे बेहतर और कोई माध्यम हो ही नहीं सकता। वे कहा करती थीं कि जब वे साठ साल की हुईं

भूटान की बदलती पहचान

❑

पवनकुमार गुप्ता

रिनपोचे खेन्यत्से से जुड़ी एक संस्था के बुलावे पर भूटान जाना हुआ। संस्था एक अमेरिकी महिला देखती हैं, जो रिनपोचे की करीबी हैं। उन्होंने शिक्षा पर एक कार्यशाला आयोजित की थी। मुझे भूटान से लगाव रहा है। चौंतीस वर्ष पहले पहली बार वहां कोलकाता के कुछ दोस्तों के साथ घूमने गया था। ऐसी सुंदर, भोली, नाजुक-सी कोई जगह, बल्कि कहें ऐसा एक पूरा देश इस धरती पर हो सकता है, विश्वास ही नहीं हुआ। देख कर बहुत रोमांच हुआ था। मन में यह भाव उठा था कि यह जगह ऐसे ही रहे, सुरक्षित रहे। मेरा मानना है कि जिस देश की परंपरा में ऊंची सौंदर्य-दृष्टि होती है, वहां का समाज सशक्त और खुशहाल होता है।

इसलिए भूटान से न्योता आया तो बिना कोई हील-हुज्जत किये, बगैर ज्यादा पूछताछ किये मैंने हां कर दी। इस बीच भूटान एक अन्य कारण से भी मेरी उत्सुकता का विषय बन चुका था। भूटान पहला राष्ट्र है, जिसने 'सकल राष्ट्रीय उत्पाद' की जगह 'सकल राष्ट्रीय खुशहाली' की बात उठाई और उसे अपना लक्ष्य बनाने की घोषणा की है। दुनिया के कई लोग इसे गंभीरता से ले रहे हैं।

पर आज की दुनिया में जहां गुणात्मक सोच पर मात्रात्मक सोच हावी है-जिसके कारण और तर्क समझ भी आते हैं-इस खुशहाली को कैसा मापा जाए, बड़ा प्रश्न बन गया है। सृष्टि में कुछ वस्तुएं इंद्रियों द्वारा जानी जाती है, पर भाव, प्रेरणा, अच्छे-बुरे का बोध, पीड़ा आदि इंद्रियों से परे हैं, वे सिर्फ महसूस किए जा सकते हैं। मनुष्य इन्हीं इंद्रियातीत भावों से संचालित है, जिन्हें मापा नहीं जा सकता, जिसका गणित नहीं बैठाया जा सकता। उन्हें आधुनिक विज्ञान से संचालित दुनिया अक्सर नकार देती है, सिवाय शरीर में होने वाली पीड़ा के। यह आज की दुनिया की एक बड़ी विडंबना और परेशानी है। सकल राष्ट्रीय खुशहाली का मुद्दा उठा कर भूटान ने प्रचलित सोच को चुनौती दी, और कोई बड़ी बात दुनिया के सामने घटने की संभावना पैदा की है। छोटा देश है तो क्या हुआ ?

क्रमशः पृष्ठ १५ पर...

पृष्ठ १० से आगे...

तब मुंबई के कुछ मजदूर संगठनों ने मिलकर उन्हें एक एंबेसडर कार भेंट की थी। उस समारोह में केन्द्रीय मंत्री मधु दंडवते भी आये थे। उन्होंने मृणाल गोरे के प्रशंसकों से पूछा था, 'कार तो आपने दे दी, मृणाल पेट्रौल कहां से लाएंगी ?' यह सवाल सिर्फ मृणाल के बारे में ही नहीं, हमारे वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य के बारे में भी बहुत कुछ कह जाता है।

आज हमारे आधे से ज्यादा सांसद करोड़पति हैं। इस स्थिति की तुलना जरा इस दृश्य से कीजिए-मृणाल जब मां बनीं तो उनके पिता ने घर में आई लक्ष्मी को सोने की एक चेन देनी चाही थी। मृणाल ने पिता से कहा, वे चेन के बदले नकद राशि दे दें, उसके ब्याज से वे अपनी बेटी को रोज स्वस्थ नाश्ता करा सकेंगी।

यही स्वस्थ आहार वे देश की सब बेटियों तक पहुंचाना चाहती थीं। वे चाहती थीं ऐसा समतावादी समाज जिसमें कोई भूखा न सोये, कोई अशिक्षित न रहे, जिसमें राजनीति सेवा का माध्यम हो, जिसमें संघर्ष सत्ता के लिए नहीं बल्कि सत्ता को सार्थक बनाने के लिये किया जाये। निराश थीं वे आज की राजनीति से और नेताओं के व्यवहार से, पर आश्वस्त थीं कि कभी तो त्याग और संघर्ष की राजनीति का दौर लौटेगा। अलविदा ताईं !❑

'शुक्रवार' मासिक पत्रिका, नयी दिल्ली

नज़्म
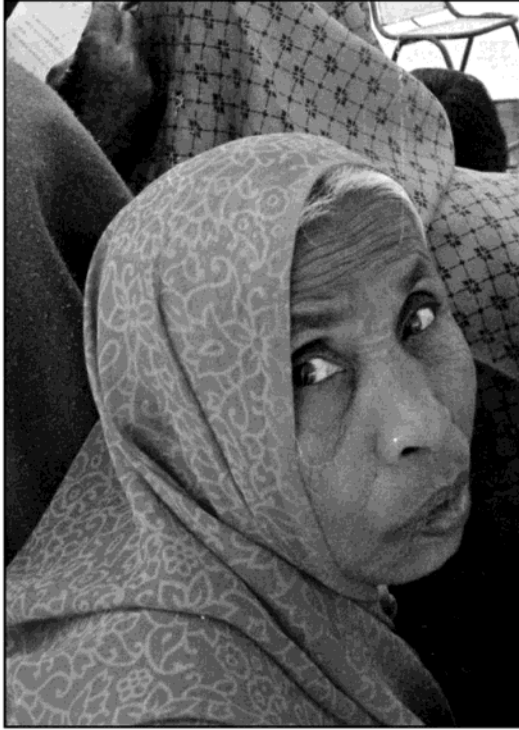
मेरे बच्चों गर तुम मुझ को बुढ़ापे के हाल में देखो
उखड़ी उखड़ी चाल में देखो
मुश्किल माहो-साल में देखो
सब्र का दामन थामे रखना
कड़वा है ये घूंट पर चखना
'उफ' न कहना,गुस्से का इज़हार न करना
मेरे दिल पे वार न करना

हाथ मेरे गर कमज़ोरी से कांप उठें
और खाना मुझ पर गिर जाय तो
मुझ को नफ़रत से मत तकना, लहजे बेज़ार न करना
भूल न जाना, इन हाथों से तुम ने खाना खाना सीखा
जब तुम खाना मेरे कपड़ों और हाथों पर मल देते थे
मैं तुम्हारा बोसा लेकर हंस देती थी
कपड़ों की तबदीली में गर देर लगा दूं या थक जाऊं
मुझ को सुस्त और काहिल कह कर मुझे और बीमार न करना

भूल न जाना कितने शौक से तुम को रंग बिरंगे क
एक एक दिन में दस दस बार बदलवाती थी

मेरे ये कमज़ोर कदम गर जल्दी जल्दी उठ न पाये
मेरा हाथ पकड़ लेना, तुम तेज़ अपनी रफ़तार न क
भूल न जाना, मेरी उंगली थाम के तुम ने पांव पांव
मेरी बांहों के हलके में गिरना और सम्भलना सीखा

जब मैं बातें करते करते रुक जाऊं, खुद को दोहर
टूटा रब्त पकड़ न पाऊं, यादे माज़ी में खो जाऊं
आसानी से समझ न पाऊं, मुझ को नर्मी से समझा

ज़्म

बिरंगे कपड़े पहनाती थी।

ठ न पायें
तार न करना
पांव पांव चलना सीखा
ना सीखा

को दोहराऊं
जाऊं
से समझाना

मुझ से मत बेकार उलझना, मुझे समझाना
उकता कर घबरा कर मुझ को डांट न देना
दिल के कांच को पत्थर मार के करची करची बांट न देना
भूल न जाना जब तुम नन्हें मुन्ने से थे
एक कहानी सौ सौ बार सुना करते थे
और मैं उतनी ही चाहत से हर बार सुनाया करती थी
जो कुछ दोहराने को कहते, मैं दोहराया करती थी

अगर नहाने में मुझ से सुस्ती हो जाय
मुझ को शरमिन्दा मत करना, ये न कहना आप से कितनी बू आती है
भूल न जाना जब तुम नन्हें मुन्ने से थे और नहाने से चिढ़ते थे
तुम को नहलाने की खातिर
चिड़ियाघर ले जाने का मैं तुम से वादा करती थी
कैसे कैसे हीलो से तुम को आमादा करती थी
गर मैं जल्दी समझ न पाऊं, वक्त से कुछ पीछे रह जाऊं
मुझ पर हैरत से मत हंसना और कोई फिकरा न कसना

मुझ को कुछ मोहलत दे देना, शायद मैं कुछ सीख सकूं

मैंने बरसों मेहनत करके तुम को क्या क्या सिखलाया था
खाना-पीना, चलना-फिरना, मिलना-जुलना, लिखना-पढ़ना
और आंखों में आंखें डाल के इस दुनिया की, शायद मैं कुछ सीख सकूं

मेरी खांसी सुन कर गर तुम सोते सोते जाग उठो तो
मुझ को तुम झिड़की न देना
ये न कहना, जाने दिन भर क्या-क्या खाती रहती है
और रातों को खूं खूं करके शोर मचाती रहती है
भूल न जाना मैंने कितनी लम्बी रातें
तुम को अपनी गोद में लेकर टहल टहल कर काटी हैं

गर मैं खाना न खाऊं तो तुम मुझ को मजबूर न करना
परहेज़ों की आड़ में हर पल मेरा दिन रन्जूर न करना
किस का फर्ज है मुझ को रखना
इस बारे में इक दूजे से बहस न करना
आपस में बेकार न लड़ना
जिस की कुछ मजबूरी हो उस भाई पर इल्ज़ाम न धरना

गर मैं एक दिन कह दूं अर्शी, अब जीने की चाह नहीं है
यूं ही बेवजह बनी बैठी हूं, कोई भी हमराह नहीं है
तुम मुझ पर नाराज़ न होना
जीवन का ये राज़ समझना
बरसों जीते जीते आखिर ऐसे दिन भी आ जाते हैं
जब जीवन की रूह (आत्मा) तो रूखसत हो जाती है
सांसों की डोरी रह जाती है

शायद कल तुम जान सकोगे, इस मां को पहचान सकोगे
गर्चे जीवन की इस दौड़ में मैं ने सब कुछ हार दिया है
लेकिन मेरे दामन में जो कुछ था तुम पर वार दिया है
तुम को सच्चा प्यार दिया है

जब मैं मर जाऊं तो मुझ को
मेरे प्यारे रब की जानिब चुपके से सरका देना
और दुआं की ख़ातिर हाथ उठा देना

मेरे प्यारे रब से कहना रहम हमारी मां पर कर दे
जैसे उस ने बचपन में हम कमज़ोरों पर रहम किया था
भूल न जाना मेरे बच्चो
जब तक मुझ में जान थी बाकी
ख़ून रगों में दौड़ रहा था
दिल सीने में धड़क रहा था
ख़ैर तुम्हारी मांगी मैं ने
मेरी हर एक सांस दुआ थी । ❑

अब्दुल अहद, ६६ – बी, सज्जन नगर,
उदयपुर के सौजन्य से प्राप्त

पृष्ठ ११ से आगे...

कार्यशाला में कई संस्थाओं से लोग आये थे-उनमें भिक्षु और भिक्षुणियों के अलावा सरकारी स्कूलों के शिक्षक, शिक्षिकाएं और अधिकारी भी थे। शिक्षकों को तैयार करने के लिए जिस कॉलेज में यह कार्यक्रम हो रहा था, कभी-कभी वहां के शिक्षक भी आकर बैठ जाते थे। कार्यशाला अंग्रेजी में हो रही थी। पता चला कि भूटान सरकार ने शिक्षा का माध्यम ही अंग्रेजी कर दिया है और वहां के शायद सभी पढ़े-लिखे लोगों को इस बात से कोई परहेज नहीं है, बल्कि वे इसका स्वागत कर रहे हैं।

पर कार्यशाला के पहले ही दिन साफ हो गया कि अंग्रेजी के मामले में भूटान का हाल हमसे भी बुरा है। एक तरफ अंग्रेजी के प्रति आकर्षण और उसका सम्मोहन और दूसरी तरफ अंग्रेजी न आने पर भी इस भ्रम में रहना कि हमें आती है। पर बात इससे भी आगे जाती है। जो अंग्रेजी के मोह में डूबे और इस भ्रम में जीते हैं कि उन्हें अंग्रेजी आती है, उनकी हालत विचित्र है। वे कुछ का कुछ समझते हैं, कहना कुछ चाहते हैं, पर कहते कुछ और हैं और यह स्वीकार भी नहीं कर पाते कि उन्हें समझ नहीं आ रहा, मुश्किल हो रही है। फिर वे नाटक करते हैं, प्रश्न नहीं करते, स्पष्टीकरण नहीं मांगते, चुनौती भरे सवाल करना तो दूर, अपनी अस्मिता भूल कर बच्चों जैसा व्यवहार करने लगते हैं। ऐसा तब होता है जब दूसरी तरफ बात करने वाले की मातृभाषा अंग्रेजी होती है। बड़ी उम्र के अनुभवी लोगों को, विदेशियों के सामने बच्चे जैसा बन कर अपना मान खोते हुए मैंने यहां भारत में भी देखा है, कार्यशाला के पहले दिन भूटान में भी देखा। बड़ी कोफ्त हुई।

वे विदेशी, जिनकी भाषा अंग्रेजी होती है, अक्सर यह देख कर कि दूसरे देश के लोग उनकी जुबान में बोल रहे हैं, उसे अपना रहे हैं, बड़े खुश होते हैं। उन्हें अनायास इन देशों में ऊंचा दर्जा मिलने लगता है और उनके मामूली लोग भी विशेषज्ञ बन जाते हैं। ये साधारण विदेशी, भाषा के साथ-साथ अपने हाव-भाव, तरीके, मुहावरे, वहां की मान्यताएं आदि भी लाते हैं। यह सब बहुत स्पष्ट नहीं होता, बड़े चुपके से आता है और रंगीन दुनिया के भोले-भाले लोगों को अटपटा बना देता है। उनका आत्मविश्वास छीन लेता है।

रंगीन दुनिया के लोग धीमी गति वाले हैं। गोरी दुनिया के लोग तीव्र गति से जीते हैं। इसलिए उनके तरीके भी दूसरी तरह के होते हैं। रंगीन दुनिया वाले बहुत देर तक बिना कुछ किए रह सकते हैं, उसमें उन्हें कुछ अटपटा नहीं लगता, पर गोरी दुनिया को हर समय कुछ न कुछ करना आवश्यक है, नहीं तो उन्हें खुद पर शंका होने लगती है कि कहीं कोई गड़बड़ तो नहीं हो गयी। रंगीन दुनिया के साधारण लोग लंबे समय तक किसी के विचार, कहानी, कथा, प्रवचन सुन सकते हैं, उन्हें इसमें कोई परेशानी नहीं, पर गोरी दुनिया लंबे समय तक दूसरे को सुनने की अभ्यस्त नहीं। रंगीन दुनिया मौखिक परंपरा वाली रही है। गोरे देश के लोग पढ़ सकते हैं, सुन नहीं सकते। हम जैसे लोग सुन सकते हैं, पढ़ने में परेशानी होती है। इन सब बातों का शिक्षा और प्रशिक्षण से गहरा संबंध है।

भूटान में लक्ष्य भले सकल राष्ट्रीय खुशहाली का हो, पर विकास कार्यक्रम, वहां के संस्थागत ढांचे तेजी से हिन्दुस्तान के रास्ते चल रहे हैं। सात लाख से दस लाख की आबादी वाले देश हिन्दुस्तान की अंग्रेजों से विरासत में मिली सड़ी-गली व्यवस्थाओं की नकल कर रहा है। वे हमारी गलतियों से सीख सकते थे, पर वे उन्हें दोहरा रहे हैं। वहां का पढ़ा-लिखा मध्यम वर्ग अपनी परंपराओं की शक्ति से अनभिज्ञ हो रहा है। सरकारी तामझाम भी हमारी तरह बढ़ रहा है। व्यवस्थाओं और संस्थाओं की नकल भारत से हो रही है, पर सभी छोटी-बड़ी योजनाओं में विदेशी सलाहकार छाए हैं। उनकी भाषाएं अनाथ हो रही हैं, वे नकलची बन कर अपनी अस्मिता, अपनी परंपराओं की शक्ति और सौंदर्य दृष्टि बहुत तेजी से खोते जा रहे हैं। वह समय दूर नहीं, जब बौद्ध मठों में गोरे लोग मठाधीश बन जाएं। बड़े लामा विदेशियों से घिरे हैं, आखिर सम्मान और पैसा दोनों मिलता है उनसे। ये सलाहकार और अनुयायी अच्छे ही लोग होंगे, पर वे क्या करें, वे अनजाने ही इन लोगों के आत्म विश्वास को कुचल देते हैं।

मैंने कुछ-कुछ ऐसा ही अस्सी के दशक में नेपाल में होते देखा था। नेपाल का क्या हाल है, हम देख रहे हैं। भूटान भी उसी रास्ते चल रहा है। नेपाल को इस हालत में लाने में विदेशी सलाहकारों, विदेशी स्वयंसेवी संगठनों और भारत ने अपने-अपने तरीके से भूमिका निभाई। उस पर जनंतत्र से यकायक मिली खुली छूट ने स्थिति और बिगाड़ दी। इस समय के भूटान और पचीस साल पहले के नेपाल में कई समानताएं हैं।

जो हो, भारत के सामाजिक विज्ञान के विद्यार्थियों को इस समय वहां जाकर समझना चाहिए कि समाज कैसे बदलते हैं, उनकी शक्ति का ह्रास कैसे होता है, बिना हथियारों की लड़ाई के कैसे कोई सभ्यता किसी दूसरी सभ्यता पर हावी होने लगती है, कैसे किसी समाज के आत्म विश्वास और उसकी सौंदर्य-दृष्टि का हनन होता है। इसे समझेंगे तो अंदाजा लगेगा कि भारत में दो ढाई सौ वर्षों में क्या हुआ होगा। शायद धर्मपाल भी समझ आएं। महात्मा गांधी वास्तव में क्या करना चाहते थे, यह भी समझ आने लगे।□

जनसत्ता, २९ जुलाई, २०१२
से साभार

गुजराती बाल साहित्य की दशा और दिशा

❑

वर्षा दास

मेरी उम्र के लोग जो साठ के उस पार चले गये हैं उनको जब बाल साहित्य की कोई बात पूछी जाये तो वे अपने सुनहरे बचपन को याद किये बगैर नहीं रह सकते। किसी परीकथा की तरह हम हमारी बात शुरू करते हैं कि 'वंस एपॉन ए टाइम देयर वाज....' आदि। जी हां, उन दिनों गुजराती भाषा में बहुत ही बढ़िया बाल साहित्य था। बच्चों के लिए एक से बढ़कर एक पत्रिकाएं निकलती थीं। हां, प्रोडेक्शन साधारण था, इलेस्ट्रेशन के नाम पर चंद रेखाचित्र ही पाये जाते थे। मुखपृष्ठ वैसे तो इकरंगी ही थे पर दो रंगों का भ्रम पैदा होता था क्योंकि मुखपृष्ठ का कागज सफेद की बजाय हल्का हरा, नीला या गुलाबी हुआ करता था और उसके ऊपर किसी विषम रंग की स्याही से छपा रेखाचित्र सुंदर ही लगता था। पर उस साधारण सी दिखती पुस्तकों में जो लेखन था वह हमें बांधे रखता था।

गिजुभाई बधेका की कहानियों में ढेर सारा मनोरंजन था। जीवराम जोशी की मियां फुस्की और तभा भट्ट की कहानी एक मुसलमान और एक ब्राह्मण मित्र की कहानी थी। दोनों एक दूसरे का मजाक करते रहते, दोस्ती भी पक्की थी। लेकिन आज के माहौल में उस प्रकार के मजाक से दंगे और पत्थरबाजी हो जायेगी। विभिन्न जातियों और धर्मों के लोगों की गाढ़ी मित्रता का बयान उन कहानियों में बड़ी स्वाभाविकता से होता था।

इन दिनों अच्छे गुजराती बाल साहित्य की मांग तो है पर उसका शरीर और आत्मा दोनों बदल गये हैं। शहरों और उपनगरों में माता-पिता चाहते हैं कि उनके बच्चे अंग्रेजी माध्यम के स्कूल में पढ़ें, उन्हें अच्छी नौकरी मिले, उनका भविष्य उज्जवल हो। लेकिन मातृभाषा का महत्त्व जो नहीं समझते हैं वे साहित्य और संस्कृति दोनों का नुकसान करते हैं। अपने अनुभव से मुझे लगता है कि हमारी प्राथमिक शिक्षा, स्कूली शिक्षा जिस माध्यम में होती है उसी भाषा की पुस्तकें हम स्वाभाविक रूप से पढ़ना पसंद करते हैं। चूंकि मैं गुजराती माध्यम के स्कूल में पढ़ी थी, जो मेरी मातृभाषा भी है, मैं जिन्दगी भर गुजराती पढ़ती लिखती रही, उड़िया भाषी व्यक्ति से विवाह करने के बावजूद, दिल्ली में रहकर हिन्दी और अंग्रेजी का निरन्तर प्रयोग करने के बावजूद और मेरी वजह से मेरी पुत्री और पुत्र भी गुजराती बोलते हैं, पढ़ते हैं। विदेशों में बस गये मेरी पीढ़ी के लोग अभी भी गुजराती साहित्य से संपर्क रखते हैं, पर उनके बाद की पीढ़ियां गुजराती बोल भी नहीं पातीं। ऐसा ही दिल्ली में बसे गुजराती परिवारों के साथ हुआ है।

गुजराती बाल साहित्य की वर्तमान स्थिति जानने के लिए मैंने गुजरात में बसे कुछ ऐसे लोगों से बात की जिनका बाल साहित्य से गहरा नाता है। ऐसे एक व्यक्ति हैं महेन्द्रभाई मेघाणी। इस समय उनकी उम्र ८५ से अधिक है। उन्होंने अपना सारा जीवन अच्छे साहित्य के प्रकाशन, प्रचार और प्रसार में बिताया है। यह कार्य उनके द्वारा स्थापित लोक मिलाप ट्रस्ट के जरिये किया जाता है। महेन्द्रभाई गांव-गांव जाकर साहित्य वाचन करते हैं। वह जानते हैं कि आज के युग में लोगों की, विद्यार्थियों की प्राथमिकता बदल गयी है। लोग टी.वी. देखने में समय व्यतीत कर सकते हैं पर पुस्तक पढ़ने के लिए उनके पास समय नहीं है। तो महेन्द्रभाई ने स्वयं अच्छी पुस्तकों का संक्षिप्तीकरण करना शुरु किया, 'लोकमिलाप' इन्हें प्रकाशित करता है और बहुत ही कम कीमत पर बेचता है। जैसा कि काका कालेलकर की एक गुजराती पुस्तक है 'ओतराती दीवालो' जो सन् १९२५ में प्रकाशित की गयी थी। १९२३ के फरवरी

के महीने में काका साहब का जेल में प्रवेश हुआ था। उन्हें एक कोठरी में रखा गया था। कारावास के दौरान उन्होंने जिस प्रकृति को देखा, उसके सौंदर्य से जो आनंद प्राप्त किया उसी का वर्णन इस पुस्तक में है। इसे छोटे-बड़े सभी बड़े चाव से पढ़ते हैं क्योंकि उसमें उपदेश नहीं है, प्रचार नहीं है, सयानापन नहीं है, विद्वता नहीं है, केवल अनुभव का, सुख-दुख का और कल्पना का आदान-प्रदान है।(पुस्तक की प्रस्तावना से जो काका साहब ने ११ दिसम्बर, १९३९ को लिखी थी।) इसी लोकप्रिय पुस्तक को महेन्द्र भाई ने संक्षिप्त किया है। लोक मिलाप ने इसे चार गुना साढ़े पांच इंच के कद की , २८ पृष्ठों की पुस्तिका के रूप में छापा है। ५००० प्रतियां छापी हैं, एक प्रति का मूल्य रु. ५ है। यदि कोई १०० प्रतियां खरीदे तो उसे रु. ४ की एक प्रति के हिसाब से, और १००० प्रतियां रु. ३ की ,एक प्रति के हिसाब से प्राप्त होंगी। इसे जेब में आसानी से रखा जा सकता है।

लियो तोल्सतोय की एक रूसी पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद है 'व्होट धैन शेल वी डू।' इसका गुजराती अनुवाद महात्मा गांधी के निकटम साथी नरहरि परीख और पांडुरंग वलामे ने किया था। इसका पहला संस्करण १९२८ में, दूसरा १९३४ में छपा। पुनर्मुद्रण होता रहा। महेन्द्र भाई ने इसको संक्षिप्त करके १९९९ में पहली बार और २००८ में दूसरी बार छापा।

महेन्द्रभाई कहते हैं कि बाल साहित्य लिखना बहुत मुश्किल है। आजकल की कुछ पुस्तकों में घटियापन भी आने लगा है। पश्चिम का अच्छा बाल साहित्य गुजराती में छपे तो हमें आनंद ही होगा। लेकिन यहां तो साहित्य ही क्या जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में भी परिश्रम करने की वृत्ति ही नहीं रही। सभी शोर्टकट चाहते हैं और पैसा चाहते हैं। उन्हें चिल्ड्रन्स बुक ट्रस्ट और नेशनल बुक ट्रस्ट ने बच्चों के लिए जो पुस्तकें गुजराती में प्रकाशित की हैं वे चाहिए, लेकिन वे अप्राप्य हैं।

बाल साहित्य की मांग तो है पर उसका शरीर और आत्मा दोनों बदल गये हैं। शहरों और उपनगरों में माता-पिता चाहते हैं कि उनके बच्चे अंग्रेजी माध्यम के स्कूल में पढ़ें, उन्हें अच्छी नौकरी मिले, उनका भविष्य उज्जवल हो। लेकिन मातृभाषा का महत्त्व जो नहीं समझते हैं वे साहित्य और संस्कृति दोनों का नुकसान करते हैं। अपने अनुभव से मुझे लगता है कि हमारी प्राथमिक शिक्षा, स्कूली शिक्षा जिस माध्यम में होती है उसी भाषा की पुस्तकें हम स्वाभाविक रूप से पढ़ना पसंद करते हैं।

मुंबई में गुजराती और मराठी साहित्य के विद्वान समीक्षक हैं दीपकभाई महेता। उनका कहना है कि गुजराती में बाल साहित्य बहुत ही कम लिखा जा रहा है। अभी भी एन्डर्सन और ग्रिम्स की कहानियों के अनुवाद और रूपांतरण होते हैं, लोक कथाएं निरंतर नये चित्रों के साथ छपती रहती है। वैसे भी अब ई-बुक्स और इन्टरनेट का उपयोग बढ़ता जा रहा है। दीपक भाई को लगता है कि हमें मुद्रित पुस्तकों का आग्रह नहीं रखना चाहिए। गुजरात के गांवों में गुजराती पुस्तकों की मांग है पर उन्हें खरीदने की शक्ति नहीं है।

यशवंतभाई महेता अहमदाबाद में रहते हैं। उन्होंने सन् १९९४ में बाल साहित्य अकादमी की स्थापना की थी। बाल साहित्य का स्तर ऊपर उठाने के लिए गुजरात साहित्य अकादमी द्वारा बाल साहित्य के लेखकों को भी पुरस्कृत करने की मांग की। बाद में देखा गया कि इन लेखकों को जो पुरस्कार दिया जाता था उसकी राशि अन्य लेखकों को दी जाती राशि से आधी थी। यशवंतभाई ने इसके लिए भी अभियान चलाया और सफल हुए।

गुजराती में शिशु साहित्य, प्री-स्कूल नहीं कि बराबर है। यशवंतभाई ने शिशु साहित्य एवं बच्चों के लिए विज्ञान की पुस्तकों को भी पुरस्कृत करने की योजना बनायी। बाल साहित्य अकादमी वर्ष में तीन-चार बड़ी पुस्तकों का प्रकाशन करता है जिसमें बाल साहित्य से संबंधित विषयों पर गंभीर विमर्श होता है। अब कुछ लोग बाल साहित्य में पी.एच.डी. करने लगे हैं। कच्छ के भुज में श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा कच्छ विश्वविद्यालय है। यहां बाल साहित्य विषय में पोस्ट ग्रेज्युशेन करने का कोर्स है।

यशवंतभाई का कहना है कि गुजराती विद्यार्थियों की आबादी का १० प्रतिशत भी अंग्रेजी माध्यम के विद्यालयों में नहीं पढ़ रहा है। पुस्तकालयों में भी बाल साहित्य की मांग है। बच्चों के लिए अच्छी पत्रिकाओं का प्रकाशन भी हो रहा है। बाल साहित्य अकादमी सन् १९९९ से 'बाल आनंद' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन कर रही है, जिसका मुद्रण और वितरण गुर्जर के कार्यालय से हो रहा है। इस के अतिरिक्त भावनगर से 'धींगामस्ती', अहमदाबाद से 'बालरंजन', राजकोट से 'जयहिन्द', अखबार द्वारा 'फूलवाड़ी' साप्ताहिक और गुजरात समाचार अखबार द्वारा 'झगमग' का प्रकाशन होता है।

अहमदाबाद स्थिति गुजरात विश्वकोश ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित गुजराती विश्वकोश ग्रंथश्रेणी में २५ ग्रंथों का प्रकाशन हो चुका है। सन् २००९ में उन्होंने बाल विश्वकोश के प्रकाशन की योजना बनायी। इस के अंतर्गत दो ग्रंथ छप चुके हैं, तीसरा मुद्रणाधीन है। कुल पांच ग्रंथों की

योजना बनाई थी पर अब संख्या बढ़ भी सकती है।

योजनायें बनती हैं, पुस्तकें छपती हैं, लेकिन बच्चों को पढ़ने के लिए प्रेरित कैसे किया जाये ? जामनगर में कस्तुरबा स्त्रीविकास गृह है। यहां निराश्रित महिलाओं, अनाथ या गुनहगार बच्चों के जीवन को बेहतर बनाने का काम होता है। संस्था जी.एस. मेहता म्युनिसिपल कन्या विद्यालय चलाती है। इस संस्था को समर्पित प्रतिभा पांडे कहती हैं कि १० वीं और १२ वीं कक्षा की परीक्षाएं समाप्त हो जाती हैं तब वह पठन-पाठन का कैम्प करती हैं। ये लड़कियां पढ़ सकती हैं, लिख सकती हैं लेकिन दूसरों के समक्ष बोलने का साहस नहीं जटा पाती हैं। लड़कियां स्वयं संस्था के पुस्तकालय से पुस्तक चुनती हैं, उसे पढ़कर उसका सारांश लिखती हैं। फिर प्रतिभाबहन जामनगर की 'गुजरात बिरादर' नामक एक संस्था से दो-तीन व्यक्तियों को आमंत्रित करती हैं। उनके समक्ष ये लड़कियां अपना लिखा हुआ पढ़कर सुनाती हैं। उन्हें पठनाभिमुख करने की योजना में लड़कियों के सशक्तिकरण की प्रक्रिया भी शुरु हो जाती है।

वड़ोदरा से लगभग ढाई घंटे की दूरी पर तेजगढ़ नाम का एक गांव है। यहां गणेश देवी, बंगाल की विख्यात लेखिका महाश्वेता देवी और अन्य मित्रों ने मिलकर इस आदिवासी अकादमी की स्थापना की है। आदिवासी बच्चों के लिए उन्होंने उनकी भाषा में पाठ्यपुस्तकें तैयार की हैं। 'बालकोनु बोल' नामक एक द्विमासिक पत्रिका का प्रकाशन भी किया जाता है।

ऐसे काम शायद अन्य भाषाओं में भी होते होंगे, पर यह छोटे-छोटे पॉकेट्स में ही होते हैं। सन् २०१० में, जब गुजरात में सरकार की ओर से 'स्वर्णिम गुजरात' के तहत कई कार्यक्रमों का आयोजन हुआ था उस में एक था 'वांचे गुजरात'। सन् १९६० में गुजरात अलग राज्य बना था। उसके ५० वर्ष होने पर ये कार्यक्रम २०१० से २०११ के दौरान बड़े पैमाने पर आयोजित हुए थे। पूरे गुजरात को पढ़ने के प्रति अभिमुख करने की व्यवस्थित योजना बनायी गयी थी। इस कार्यक्रम में सक्रिय हिस्सा ले रहे राजेन्द्रभाई पटेल ने बताया कि गुजरात को पढ़ाने की योजना में मॉटिवेशन तीन स्तरों पर किया। १. विद्यालयों में, २. विश्वविद्यालयों और कॉलेजों में ३. स्वयंसेवी संस्थाओं के जरिये समाज में।

१८००० विद्यालयों में दिन का आरंभ होता था किसी एक विद्यार्थी द्वारा जो बताता था कि उसे कौनसी पुस्तक अच्छी लगी, और क्यों ? यही बात कॉलेजों और अन्य संस्थाओं द्वारा की जाती थी।

महीने में एक बार शिक्षक 'मेरी पंसद की पुस्तक' पर बात करते थे। एक और योजना थी 'तैरती पुस्तक' की। पुस्तकें पुस्तकालय में स्थगित न रहे, तैरती रहे। यानी एक व्यक्ति स्वयं एक पुस्तक पढ़ने के बाद दूसरे व्यक्ति को देता था। वह उसे पढ़कर तीसरे को देता था। इस प्रकार एक पुस्तक दस जने पढ़ते थे। पुस्तक के साथ एक कागज भी घूमता था जिस पर पढ़ने वाले व्यक्ति का नाम, पता और टेलीफोन नंबर नोट किया जाता था। इस के तहत एक लाख पुस्तकों को तैराया गया था।

'वांचे गुजरात' के दौरान गुजरात सरकार ने एक ऐलान यह भी किया था कि पहले से तय किये गये एक दिन सारे गुजरात के सभी लोग, जो जहां भी हो, अपना काम छोड़कर सुबह के ९ से १० बजे तक पुस्तक पढ़ेंगे। इस में दस लाख लोगों ने हिस्सा लिया था।

इस अभियान को सुचारू रूप से चलाने के लिए जिले के स्तर पर १०-२० पुस्तक प्रेमियों की समिति का गठन किया गया था। प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षकों से बातचीत की गई। ५००० शिक्षकों को प्रशिक्षण दिया गया, उन्होंने अन्य शिक्षकों को प्रशिक्षण दिया और इस प्रकार ५०,००० शिक्षक कार्यान्वियन के लिए तैयार हो गये।

तालुकों और जिलों में ६२ पुस्तक मेलों का आयोजन हुआ। प्रकाशकों ने काफी कमाया। इस कार्यक्रम में भाषा या विषय को महत्त्व नहीं दिया गया था। जिसे जिस भाषा में जो पुस्तक पढ़नी हो वह खुद खरीदे और पढ़े। इसमें सरकार ने योजना का बैंक एकाउंट तक नहीं खोला था। न ही कोई पुस्तक सूची बनायी गयी थी। यह एक निःशुल्क योजना थी। इस योजना को चलाने वालों का कहना था कि पुस्तकों को पढ़ने से हजारों बच्चों में परिवर्तन हुआ। इनमें १२०० विद्यार्थी ऐसे थे जिन्होंने १० या उससे अधिक पुस्तकें पढ़ी थीं। उन्हें राज्य के मुख्यमंत्री के साथ बातचीत करने के लिये आमंत्रित किया गया था। यह लड़का सौराष्ट्र के अमरेली शहर का था, सातवीं या आठवीं कक्षा में पढ़ता था। उसने मुख्यमंत्री से पूछा, 'आपने पुस्तक पढ़ने की योजना तो बहुत अच्छी बनाई है, लेकिन आपके पास क्या गरीबी दूर करने का भी कोई अभियान है ?'

'वांचे गुजरात'अभियान में १८ लाख बच्चों ने एक करोड़ पुस्तकें पढ़ीं। डेढ़ साल के बाद योजना बंद हो गई। क्यों ? इसका जवाब मिलना मुश्किल है।

इस योजना के कई कार्यक्रम ऐसे हैं जिन्हें देश के विभिन्न राज्यों में प्रदेश में कार्यान्वित किया जा सकता है। यह काम सामाजिक एवं शिक्षा संस्थायें, लेखकों और प्रकाशकों की संस्थायें, औपचारिक एवं अनौपचारिक उपक्रमों के जरिये कर सकती हैं। पहले तो हमारी इच्छा हो इसे करने की, तो रास्ते अवश्य खुल जायेंगे। गोष्ठियों के बाद कोई ठोस काम हो तब ही गोष्ठियां सफल मानी जाती हैं। ❑

बी-२/२१७६, वसंत कुंज,
नयी दिल्ली-११००७०
मोबाईल नं. - ९८१८१८९९४६

लोक आकारों का बेनाम कलाकार

❑

डॉ. अन्नपूर्णा शुक्ला

प्रस्तुत लेख किसी एकलव्य जैसे एकनिष्ठ साधक का परिचय दे रहा है। कलाकार होने के लिये किसी बड़े घर में पैदा होना जरूरी नहीं अथवा किसी बड़ी शाला में पढ़ना भी जरूरी नहीं। कोई भी व्यक्ति अपनी कला साधना कहीं भी बैठकर कम से कम साधनों के साथ भी कर सकता है। डॉक्टर अन्नपूर्णा ऐसे ही किसी कलाकार से हमारा परिचय करा रही हैं। ❑ सं.

कलाकार अनगढ़ ही पैदा होता है। उसके अन्तस में सृजनात्मकता के बीज बहुत गहरे में पैठे होते हैं। जब भी उनको उचित खाद पानी मिलता है, तो वह माध्यमों में अभिव्यंजित हो जाते हैं। फिर वह चाहे मूर्ति हो, कविता हो, चित्र हो, स्वर हो या कोई अन्य माध्यम। यह बात हमारे आदिम चित्रकारों के गुफा चित्रों से स्पष्ट होती है। जिन्होंने गुफा की दीवारों में सम्पूर्ण कलादीर्घा का ही सृजन कर दिया।

यहां मैं जिस चित्रकार की बात कर रही हूं वह कोई प्रसिद्ध चित्रकार नहीं था। न ही कहीं से उसने चित्रण कार्य सीखा था हां वह अपने आदि पुरखों का ही अवशेष मात्र था। जिस तरह उनमें सृजनात्मकता असीम थी उसी तरह इस अनाम चित्रकार में भी सृजनात्मकता कहीं अधिक समायी थी। वह कोई कैनवास पर चित्रण नहीं करता था और न ही वह कोई विशाल म्यूरल ही बनाता था। हां वह लोक आकारों का सृजन करता था। उसका दूर-दूर तक कलाकारों से कोई नाता नहीं था। यदि एक रिश्ता था तो वह यह कि ३२ वर्षों पहले वनस्थली शिक्षण संस्था के उच्च माध्यमिक विद्यालय के कला विभाग में स्थानीय कार्यकर्ता के पद पर नियुक्त होने का। ३२ वर्षों तक कला परिवेश में रहने के कारण उसके अन्तर्मन में सोया सृजनकर्मी जाग गया था।

कहते हैं कि हर व्यक्ति जन्मजात कलाकार नहीं होता है। (मैंने ऊपर यह स्पष्ट किया है कि हम सब उस आदिम कलाकार के ही अवशेष हैं।) किन्तु कुछ को उचित वातावरण मिलने से उसके अन्तस के बिम्ब बेचैन होकर बाहर छलक जाते हैं। कुछ को समुचित परिवेश न मिले के कारण अन्दर ही अन्दर सिमट जाते हैं। किन्तु इस बेनाम कलाकार के मन के कलात्मक ताने-बाने बहुत ही तन्मयता से सालों तक अन्दर ही अन्दर बुनते गये। जब ये ताना-बाना अपनी परिपक्व अवस्था में जाने वाले थे तभी ईश्वर ने उनको पंच तत्वों के ताने-बाने में ऐसा फंसाया कि सदैव-सदैव के लिए अपनी अदृश्य कृति का एक पात्र बना लिया।

कलात्मक परिवेश, व्यक्ति के मन की अतल गहराइयों में जाकर सुन्दर लोक कृतियों का निर्माण कर ही लेता है। कला

विभाग में दशकों से कलात्मक परिवेश में रहने के कारण उन्होंने रेखा चित्रण करना प्रारंभ कर दिया था। वह ग्रामीण परिवेश से आये थे। उनके अन्दर गांव की सहजता थी वह बहुत ही अन्तर्मुखी थे। यही कारण था कि कला से वह बहुत जल्दी जुड़े और जो माध्यम अपनाया वह था पेपर मेशी का, क्योंकि अन्य कला सामग्री बहुत महंगी होती है। इन्हीं सब कारणों ने उनको इस माध्यम की ओर आकर्षित किया।

सृजन के क्षण सदैव परमत्व से जोड़ते हैं। यह बात अनेक दार्शनिकों और सौन्दर्य शास्त्रियों ने कही है। यह सच भी है। इस कलाकार का जीवन बहुत ही संघर्षमय था। अनेक समस्याओं से घिरा हुआ था। फिर भी सृजन प्रक्रिया अनवरत सक्रिय थी। क्योंकि सृजन तत्व किसी का मोहताज नहीं होता। वह स्वत: प्रस्फुटित होता है। तभी मानव मन आनन्द का अनुभव करता है। इस सहज आनन्द के क्षणों को इस कलाकार ने भी जिया था। तभी तो वह कला विभाग के स्टोर रूप में बैठकर बेकार पेपरों को भिगोकर उनको कूटकर मुलतानी मिट्टी और गोंद मिलाकर आवश्यकता में आने वाली अनगिनत लोक कलाकृतियों का निर्माण करता था। यही पेपर मेशी उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम थी। वही पूर्ण और अपूर्ण ही उनका रचना संसार था। उनकी कृतियों का सबसे प्रमुख बिन्दु लोक शैली थी। इसका कारण उन्होंने कहीं से कला शिक्षण नहीं प्राप्त किया था। जो भी प्रभाव उन पर था वह वनस्थली की स्वाभाविकता, उच्च माध्यमिक कला विभाग की सहजता का था। तभी उन्होंने अपने अनुकूल माध्यम खोजकर कृतियों पर कृतियां उकेरते चले गये। उन्होंने अपनी कृतियों में जो रंगों का प्रयोग किया वह भी सूखे बचे बेकार रंग ही थे, जिनको जिन्होंने सजीवता प्रदान की है। उनकी अनगिनत सहज आकारों से युक्त कृतियां आज भी उनका इंतजार कर रही हैं। इस कलाकार ने जिनका नाम **ओम प्रकाश शर्मा** उर्फ **'ओम'** था जितनी भी कृतियों का निर्माण किया है। उन पर जितनी भी आकृतियां उकेरी गयी हैं वे सब आकृतियां सहज लोक शैली में है। उनमें कुछ भी बनावटीपन नहीं है। उनकी रेखाओं में गति है, भाव है, रंगों का संयोजन प्रभावशाली है। जो बरबस ही गांवों की पगडण्डी पर खींच ले जाता है। इनके द्वारा सृजित की गयी आकृति वह चाहे लैम्प हो, फ्लावरपॉट हो या अन्य कोई भी आवश्यकता में आने वाली कृति हो वह सभी लोक रंजन भाव से रंजित है। उनमें कहीं भी शहरी वातावरण की चमक दिखायी नहीं देती है। उनकी जन्म स्थली और सृजन स्थली ग्रामीण अंचल की देन थी। इसीलिये उनकी हर कलात्मक कृति उपयोगिता को ध्यान में रखकर बनायी गयी थी। उनकी लगभग १०० कृतियों में कोई भी कृति ऐसी नहीं है जो सुन्दरता के साथ ही साथ उपयोगी न हो। उनकी बहुत सी कृतियां अधूरी ही रखी हुई है। जो उनकी रचनाधर्मिता को स्पष्ट करती हुई हर उस इन्सान को अपना मूक संवाद प्रेषित करती हुई प्रतीत होती है। कभी यह नहीं सोचो कि अच्छा ब्रश होगा और केनवास होगा तभी सृजन कार्य होगा। इस कलाकार ने समाज में कोई नाम नहीं कमाया जब तक जीवित रहा अपनी कृतियों को बन्द डिब्बे में ही रखा। कोई नहीं जान पाया कि वह अन्दर अंधेरे स्टोर रूम में कृतियों पर कृतियों का सृजन करता जा रहा है। मात्र कुछ बेकार
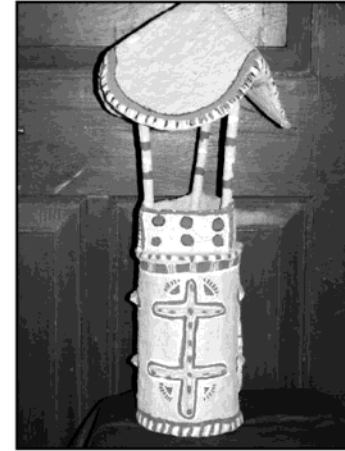
पेपर और सूखे रंगों के उपयोग से। वह भी नौकरी के सम्पूर्ण कार्यों से निवृत्त होने के बाद।

मैं यह सोचती हूं कि अगर उनको समय केवल चित्रण के लिये दिया जाता है तो उनका रचना संसार बहुत ही समृद्ध होता। क्योंकि वह सृजन आनन्द के लिए करते थे। ऐसा आनन्द जो उन्हें इतनी समस्याओं के बावजूद परमतत्व तक ले जाता था।

इस लेख को यहां प्रस्तुत करने का मेरा प्रमुख उद्देश्य ये है कि एक ऐसा व्यक्ति जो ना कलाकार था न ही शिक्षा शास्त्री, न ही दार्शनिक या सौन्दर्यशास्त्री मात्र एक स्थानीय कार्यकर्ता, या यों कहे कि ग्रामीण अंचल से निकला सादा और सहज इंसान जिसका रचना संसार विभिन्न परिस्थितियों के बीच भी सामान्य माध्यम के साथ व्यक्त होता रहा और अनगिनत कृतियों का सृजन करता गया। एक ऐसा कलाकार जिसके पास न कोई नाम था न कोई तमगा, उसके पास थी गांव की सहजता, मन का लचीलापन, गांव के सहज आकर और कोमल रंगों का कुआंरापन जिनमें आबद्ध हुई रेखाएं सौगुनी सौन्दर्य का प्रसारण करती हुई प्रतीत होती थी। यही सम्पूर्ण संयोजन उसकी सहज कृतियों का सार थी। यही सम्पूर्णता और सार तत्व हमारे समाज में रह रहे उन युवा कलाकारों के लिए प्रेरणा स्रोत हो सकता है जिनको धन का अभाव किन्तु सृजनात्मकता अपने लक्ष्य के लिए बैचेन है।

ऐसे सहज कलाकारों के लिए पेपर मेशी अमूल्य माध्यम तो है ही साथ ही एक ऐसा अनाम कलाकार जो अदृश्य तो हो गया किन्तु अपनी कृतियों के माध्यम से समाज में रहे हर उस कलाप्रेमी को एक सबक दे गया कि यदि आप के अन्दर सृजनात्मकता है तो आप को माध्यम आसान, सहज, स्वत: मिल जायेंगे।

हम कला प्रेमी इस लोक कलाकार को कुछ नहीं तो दो शब्द अपने मन के आंगन में मुखरित कर उसे श्रद्धांजलि तो दे ही सकते हैं। क्योंकि उनकी कलायात्रा स्वत: स्फुटित थी उनकी कृतियों में लोक मानस की कलायात्रा स्पष्ट दिखायी देती है। ❑

सहायक प्रोफेसर, चित्रकला विभाग
वनस्थली विद्यापीठ, जयपुर
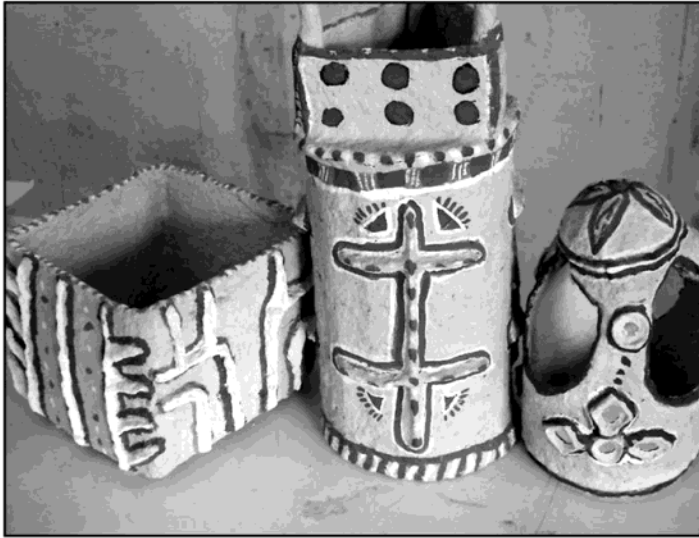
बिटिया - तुम्हारी

❑

राधेश्याम मेहरा

मां-मां मुझे मत मारो,
मैं तेरे आंगन की किलकारी,
बनूंगी जीने का सहारा बिटिया तुम्हारी।
सुनी है खबर,
मुझे जन्म से पहले ही मरना होगा।
यह पाप तेरे ही सर मढ़ना होगा।
तू ममता की सूरत, त्याग की मूरत,
कैसे सहेगी ये लाचारी।

बनूंगी जीने का सहारा बिटिया तुम्हारी
मेरी चाह है मुझे दुनिया में आने दो,
मुझको तुम्हारे आंचल में सिमटने दो।
हर एक कदम पर
बांधूगी विश्वास की डोरी,
बनूंगी जीने का सहारा बिटिया तुम्हारी।
नहीं चाहती तुम 'बेटी'की पढ़ाई
पर सोचो कैसी रहेगी बिना राखी
बेटे की कलाई।

सोच रही हूं कैसी एक नारी को
आने से रोकती एक नारी,
बनूंगी जीने का सहारा बिटिया तुम्हारी।
जीने का एक मौका दो,
बनूंगी तुम्हारी शान,
बनूंगी मैं 'कल्पना व इन्दिरा सी पहचान।
देना दहेज में तुम मां की ममता सारी
बनूंगी जीने का सहारा बिटिया तुम्हारी।
मां-मां मुझे मत मारो।
मैं तेरे आंगन की किलकारी।❑

नेहरू युवा केन्द्र, कोटा, एन.वाई.सी.
ग्राम व पोस्ट हरिपुरा (मांजी), वाया-सीमल्या,
तहसील-सांगोद, जिला-कोटा
मोबाईल नं. - ९७६९७४६४३१

उत्तर प्रदेश की चिट्ठी

लुप्त लोक को बचाता लोकरंग

❑

मनोजकुमार सिंह

उत्तर प्रदेश में गोरखपुर से कुशीनगर होते हुए बिहार जाने वाले नेशनल हाइवे पर **फाजिल नगर** कस्बे से जो सड़क दक्षिण की तरफ मुड़ती है वह **जोगिया** गांव ले जाती है। यह गांव दूसरे गांवों जैसा ही है लेकिन कुछ वर्षों से चर्चा में रहा है। पहली बार यह तब चर्चा में आया जब इस गांव की एक महिला (जो कि बीमार थी और उसका इलाज चल रहा था।) ने कथित रूप से दावा किया कि उसके ऊपर दैवी कृपा है और उसके जरिये लोगों की असाध्य बीमारियां और कष्ट दूर हो जाते हैं। इस महिला के दावे कुछ ही दिनों पर पूरे जिले में फैलाया गया और गांव में दैवी कृपा का लाभ लेने वाले हजारों की संख्या में पहुंचने लगे। कुछ चतुर सुजानों द्वारा प्रायोजित यह ड्रामा कई महीने तक चलता रहा और यह तभी समाप्त हुआ, जब यहां आने वाले लोगों का कष्ट दैवी कृपा मिलने के बावजूद दूर नहीं हुआ। उसी समय गांव के जागरूक लोगों ने इस ड्रामे के खिलाफ अपनी तरफ से बहुत प्रयास किये और प्रशासन को ज्ञापन भी दिया लेकिन प्रशासन ने गांव में जमा हो रही भीड़ के नियंत्रण के अलावा कुछ नहीं किया।

इसी गांव के निवासी कथाकार **सुभाषचन्द्र कुशवाहा** हैं। कोशिश रहती है कि गांव के लोग पढ़ें-लिखें और अंधविश्वास, आडम्बर को चुनौती देते हुए आगे बढ़ें। **सुभाष कुशवाहा** और गांव के लोगों ने **लोकरंग सांस्कृतिक समिति** की स्थापना की और लोक कलाओं के संरक्षण, विकास के साथ लोगों को जनवादी चेतना से जोड़ने के लिए प्रतिवर्ष **लोकरंग** कार्यक्रम आयोजन करने का निर्णय लिया।

पहला लोकरंग कार्यक्रम वर्ष २००८ में हुआ। इसमें पूर्वी उत्तर प्रदेश के उन लोकगीतों, लोक नृत्यों, लोक कलाओं को मंच दिया गया जो अब गायब हो रहे हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश में लोकप्रिय फरूआही नृत्य, निर्गुण गायन, भोजपुरी गीतों के साथ-साथ **गोरख पांडेय** के गीत भी गाये गये। **भगत सिंह** के जीवन पर आधारित नाटक का मंचन हुआ। तीन आयोजनों के बाद ही कार्यक्रम स्थल छोटा पड़ने लगा तो **सुभाष कुशवाहा** ने गांव के किनारे अपनी जमीन इस काम के लिये दे दी और यहां पर एक विशाल मंच और कलाकारों के ठहरने के लिये दो हाल भी बन गये। इस जगह पर पिछले दो वर्ष से **लोकरंग** में हिस्सेदारी के लिये हजारों लोग आते हैं। इस वर्ष यह आयोजन १२ और १३ मई को हुआ। इस बार पटना से हिरावल, आजमगढ़ से इप्टा, बलिया से संकल्प की सांस्कृतिक टीमों ने नाटक, लोकगीत, जनगीत, जांगिया नृत्य के कार्यक्रम प्रस्तुत किये तो जांगिया गावं की महिलाओं ने जंतसार गीत प्रस्तुत किया। जंतसार वह गीत है जिसे महिलायें घर में जांते पर गेहूं पीसते हुये गाती थीं। इन गीतों में स्त्री समाज की व्यथा की अभिव्यक्ति होती थी। इस तरह **बाकुम** नाम की एक लोककला भी प्रस्तुत की गयी। इसमें कलाकार अपने चेहरे पर नकाब डाल लेता है और हाथ में लाठी लेकर गोल-गोल घूमते हुए स्वरचित कवितायें पढ़ता है। यह लोकशैली अब विलुप्त प्राय है। इसी तरह पूर्वांचल में जोगी गायन की एक पुरानी शानदार परम्परा रही

मुम्बई की चिट्ठी

अपर्णा छोटी उम्र में बांट रही है शिक्षा

❑

'**मुझे** इसमें कोई संकोच नहीं है। मुझे इसमें कोई शर्म भी नहीं महसूस होती। मुझे लगता है कि यह हम सबके लिये महत्त्वपूर्ण है। मैं बिल्कुल बिन्दास हूं और अपनी कक्षा में आये सभी साथियों के सभी सवालों का जवाब मैं बहुत ही स्पष्ट तरीके से देना पसंद करती हूं।'

यह कहना है कोलकाता से मुम्बई आई सोलह साल की **अपर्णा भोला** का। वह एक **स्वैच्छिक संस्था 'क्रान्ति'** के साथ काम कर रही है और सेक्स एजुकेटर की भूमिका में है। गर्भ धारण हो, गर्भ निरोध हो या फिर गर्भ पात, अपनी कक्षा में मौजूद एक-एक व्यक्ति के सभी सवालों का **अपर्णा** बेहद संयम से जवाब देती है। कई बार एक ही सवाल अलग-अलग तरह से कई लोग पूछते हैं लेकिन **अपर्णा** इसका जवाब देते हुए कभी झुंझलाती नहीं। वह बड़े प्यार से सभी सवालों का बारी-बारी से जवाब देती है। **'क्रेयोन्स परियोजना'** अन्तर्गत **अपर्णा** ये कक्षाएं ले रहीं हैं।

अपर्णा का मुम्बई तक का सफर इतना आसान नहीं था । उनकी मां **मालती** कोलकाता में यौनकर्मी थीं। उनकी शादी नौ साल की छोटी उम्र में हो गयी थी। शादी के बाद अक्सर पति से पिटती रही। इस जिन्दगी से तंग आकर एक दिन **मालती** अपने गांव **सुंदरवन** (पश्चिमी बंगाल) भाग आयी। यहां मालती की एक रिश्तेदार ने कोलकाता में पढ़ाने का झांसा देकर उसे वहां के लालबत्ती इलाके में दस हजार रुपये में बेच दिया। **अपर्णा** ने अपने मां के साथ रेड लाइट की जिन्दगी को करीब से देखा है, उसने देखा है कि डॉक्टर किस तरह से लालबत्ती क्षेत्र से आयी महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार करते हैं, उन्हें इंसान ही नहीं समझते। उनकी मां को भी डॉक्टरों के इस तरह के व्यवहार को झेलना पड़ा। **अपर्णा** ने देखा, एक बार डॉक्टर ने उनकी एक परिचित महिला को देखने से इंकार कर दिया। सबसे बुरी स्थिति उस वक्त होती है, जब कोई महिला गर्भ से होती है। उनके साथ बहुत बुरा बर्ताव होता है। कई बार तो डॉक्टर थप्पड़ भी मार देते हैं। कई बार भद्दी गालियां भी देते हैं। 'पाप तुम लेकर आओ और सफाई हम करें।' इन्हीं बातों ने **अपर्णा** को सेक्स एजुकेटर बनने और भविष्य में गायनोकॉलोजिस्ट बनने की प्रेरणा दी। इस वक्त वह बारहवीं में है और **युवा संसद** में महाराष्ट्र का प्रतिनिधित्व भी करती है। इतनी कम उम्र में साथियों के बीच वह जितने विश्वास के साथ बात करती है, अपर्णा की कम उम्र को देखकर कई लोग विश्वास ही नहीं कर पाते कि यह बच्ची अपने से अधिक उम्र के साथियों को यौन शिक्षा देती होगी।

वह शरीर और जीवन से जुड़े सभी सवालों के जवाब देने के लिये हमेशा संयम से काम लेती है क्योंकि उसने कोलकाता में बितायी अपनी जिन्दगी में उन तमाम लोगों को देखा, जिनमें संयम नहीं था और इन्हीं कम सयंम वाले लोगों को देखकर उसकी यह समझ बनी कि संयम के साथ जग को जीता जा सकता है। ❑

पृष्ठ २२ से आगे...

है। ये जोगी मुसलमान होते हैं लेकिन साधु-सन्यासियों की तरह भगवा कपड़े पहन कर हाथ में सारंगी लिये गांव-गांव घूमते हुए **गोपीचंद** और **भर्तृहरि** की कथाएं गाया करते हैं। **गोपीचंद** और **भर्तृहरि राजा** थे जो गुरु गोरखनाथ के प्रभाव में आकर राजपाट छोड़ जोगी बन गये थे। ग्रामीण और साहित्यकार लोक सांस्कृतियों को बचाने के साथ-साथ गांव और किसानों की स्थिति पर विचार विमर्श करते हैं। इन कार्यक्रमों ने जोगिया गांव ही नहीं आस-पास के इलाके में लोक कलाओं के प्रति लोगों की सोच में बड़ा परिवर्तन लाया है।

अब लोकरंग की तरह दूसरे जगहों पर भी आयोजन हो रहे हैं। जहां पर लोक कलाकारों को अपनी कलाओं का प्रदर्शन करने के लिये बुलाया जा रहा है। लोकरंग ने ऐसे दौर में जब भोजपुरी भाषा को फूहड़ भोजपरी फिल्मों और गायकों ने अश्लीलता का पर्याय बना दिया है, हमारे सामने ऐसा विकल्प है जिसके जरिये हम अपनी लोककलाओं को सहेज कर उसका परिष्कार कर सामाजिक बदलाव की लड़ाई में उपयोग भी कर सकते हैं।❑

सोपान, जुलाई, २०१२ से साभार

बनास जन

साहित्य एवं सांस्कृतिक सृजनात्मकता के संचयन की एक त्रैमासिक पत्रिका

❑

बनास जन कहना किसी को शायद अच्छा नहीं लगेगा। सम्भवत: इस नाम के लिये तहे दिल से संपादक महोदय की भी पूरी सहमति नहीं है। मैं ठीक से समझ सकता हूं कि बनास नाम की पत्रिका अचानक बनास जन कैसे हो गयी। निश्चित ही पत्रिकाओं के रजिस्ट्रार के दफ्तर में बैठे किसी बड़े बाबू की समझ और पहल से ही ऐसा हुआ है। सुनता हूं कि रजिस्ट्रार का दफ्तर एक शब्द के किसी अखबार अथवा पत्रिका की स्वीकृति नहीं देता है। फिर भी नहीं मालूम की बनास के साथ ऐसा क्यों हुआ ?

बनास का नया अंक सामने है। हमेशा की तरह आकर्षक, रंगीन आवरण के साथ भरी, पूरी सामग्री लिये एक अच्छी खासी वजनदार पत्रिका का रूप धरे बनास का सभी जगह स्वागत होगा।

पाठकों की जानकारी के लिये सबसे पहले यह उल्लेख जरूरी है कि इस पत्रिका के संपादक भाई **पल्लव** हैं। **पल्लव** राजस्थान के रहने वाले हैं। राजस्थान विद्यापीठ उदयपुर से जुड़े रहे हैं और अब भी उनका विद्यापीठ के साथ आत्मीय संबंध बना हुआ है। **पल्लव** इन दिनों दिल्ली के हिन्दू कॉलेज में हिन्दी के प्राध्यापक हैं। वे बनास को साहित्य संस्कृति का संचयन कहते हैं। ऐसा कहने में वे अपनी आंतरिक ईमानदारी का परिचय दे रहे हैं। जाहिर है कि लगभग तीन सौ पृष्ठ की इस पत्रिका में अधिसंख्य सामग्री संकलित है। संकलन का एक सुख यह भी है कि कई बार बड़ी दुर्लभ चीजें सामने आ जाती हैं और इनमें ऐसी कई रचनाएं होती हैं जिन्हें कोई भी साहित्य-व्यसनी पाठक बार-बार पढ़ना चाहेगा। ऐसे संकलन में इतनी सी सावधानियां बरती जा सकती है कि अभी हाल ही में प्रकाशित रचनाएं न प्रकाशित की जायें। और अगर की भी जा रही है तो हर रचना के अंत में उसके रचनाकाल और स्रोत का उल्लेख जरूर किया जाना चाहिये।

भाई सत्यनारायण व्यास की लिखी-सीता की अग्नि-परीक्षा कोई भी पाठक बहुत उत्सुकता के साथ पढ़ना चाहेगा। क्योंकि यह निराला की कविता राम की शक्ति पूजा के उत्तरार्द्ध के रूप में प्रस्तुत की गयी है। जिस काल खंड में इस कविता की रचना हुई है उसका उल्लेख न करना इसे अपने तत्कालिक सामाजिक संदर्भों से काट कर रख देना है और ऐसी स्थिति में पाठक के सामने कई अर्थ प्रकट होते-होते खो जाते हैं।

पत्रिका में कविताएं भी हैं, कहानियां भी हैं और लेखकों के आत्मकथ्य एवं प्रसंगवश लिखे गये अलग-अलग तीन प्रसंगों के अन्तर्गत छपे कई लेख, समीक्षाएं, यात्रा इत्यादि संकलित हैं। समीक्षायन में भी सारी समीक्षाएं अनन्य रूप से केवल बनास के लिये नहीं लिखी गयी हैं ऐसे में यदि उनके स्रोत का उल्लेख हो जाता तो सुविधा होती।

फिर भी भाई पल्लव बधाई के पात्र हैं और अनन्त शुभकामनाएं भी उनके साथ है कि वे इसके प्रकाशन को नियमित रख सकें। बनास को प्राप्त करने का पता है - ३९३, डी.डी.ए. ब्लॉक सी एंड डी, कनिष्क अपार्टमेन्ट, शालीमार बाग, दिल्ली-११००८८। ❑

लोग

❑

रघुराय : देश के सुप्रसिद्ध छायाकार

रघुराय विश्व के चहेते छायाकार हैं। फोटोग्राफर हैं। वे पढ़ाई से पूरे इंजीनियर हैं मगर काम दुनिया के नाना रूपरंगों को अपने कैमरे में कैद करने का करते हैं। वे शालाओं में भी चले जाते हैं और अपने घर में अपने ही बच्चों के साथ किसी भी पल शाला की रचना भी कर लेते हैं। रघुराय फोटोग्राफी की कार्यशालाएं भी लगाते रहते हैं। वे नौजवान अत्यन्त भाग्यशाली हैं जिनको उनकी संगत का सौभाग्य मिल जाता है। पाठक रघुराय से सीधे सम्पर्क का प्रयास भी कर सकते हैं और उनसे कुछ सीखने का अवसर भी पा सकते हैं।

यहां हम रघुराय के अपने चित्र भी प्रकाशित कर रहे हैं और उनके द्वारा लिये गये कक्षाओं के दो चित्र भी प्रकाशित कर रहे हैं। रघुराय के खजाने में कोई खोजना चाहे तो भारत की शालाओं के हजारों-लाखों चित्र मिल जायेंगे। उनके चित्रों में पूरे देश की सामाजिक संस्कृति और इतिहास उतरता हुआ दीखता है। बहुत बार उनकी तस्वीरों की जीवन्तता दिल दहला देती है तो कभी रुला देती है। ❑
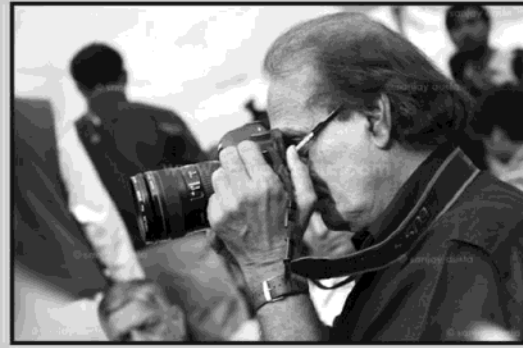
संपादक, प्रकाशक एवं मुद्रक रमेश थानवी के लिए कुमार एण्ड कम्पनी, जयपुर में मुद्रित

रजिस्ट्रार ऑव न्यूज पेपर, नई दिल्ली के द्वारा पंजीकृत मासिक पत्रिका | RNI 43602/77

जय-हिन्द